ISSN 2230-7001

The Journal of Indian Thought and Policy Research

(द जर्नल ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड पॉलिसी रिसर्च)

(English & Hindi Bilingual Research Journal)

Year : 12 Issue : 1 November 2022

अर्थ-चिंतन

Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth, Prayagraj

ISSN 2230-7001

The Journal of Indian Thought and Policy Research

द जर्नल ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड पॉलिसी रिसर्च

(An English-Hindi Bilingual Peer Reviewed/Refereed Research Journal)

Year 12 **Issue : 1** **November 2022**

Founder Patron
Shri Ashok Singhal

Patron
Dr. Murli Manohar Joshi Dr. Subramanian Swamy

Advisory Board
Dr. Bajrang Lal Gupta
Dr. Mahesh Chandra Sharma
Shri Salil Singhal
Dr. Kuldeep Chand Agnihotri
Shri Ravindra Mahajan
Shri Ashok Mehta

Editorial Board
Prof. Ishwar Sharan Vishwakarma
Prof. Harbansh Dixit
Prof. Susheel Kumar Sharma
Prof. Amar Pal Singh
Dr. Sanjay Kumar
Dr. Chandra Mauli Tripathi

Editor
Dr. Chandra Prakash Singh

Editorial Address : Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth
21/16, Mahaveer Bhavan, Hashimpur Road, Tagore Town, Prayagraj-211002 (U.P.)
E-mail : nationalthought@gmail.com +91-7007673044

Cite this issue as : 12 JITPR (I) 2022
Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth 2022

No part of this journal can be printed, published, photo copied, reproduced or stored in any retrievable system except with prior written permission of the proprietors of this publication.

It is clarified that the views expressed by the author of the articles published in the journal are their own and may not reflect the views of the Members of the Editorial Board.

Printed and Published by Dr. Chandra Prakash Singh (Director AVAP) at Prayagraj for the proprietors, Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth, 21/16, Mahaveer Bhavan, Hashimpur Road, Tagore Town, Prayagraj-211002 (U.P.)

CONTENTS

1.	संपादकीय	5-8
2.	Ravindra Mahajan **Economic Thoughts of Dattopant Thengadi**	9-22
3.	Dr. Awadhesh Sinha **Four Objectives of Man's Life and Corporate Sector**	23-37
4.	डॉ. बजरंग लाल गुप्त **पं. दीनदयाल उपाध्याय का सामाजिक और आर्थिक चिंतन**	38-44
5.	ओम प्रकाश मिश्र **प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन**	45-57
6.	डॉ. प्रमोद कुमार दुबे **भारत की आर्थिक संस्कृति**	58-62
7.	डॉ. सत्य प्रकाश तिवारी **हिन्दू संस्कृति की नींव के पत्थरः कृषक, गौपालक, शिल्पकार और कलाकार समाज**	63-74
8.	डॉ. दीनबंधु पाण्डेय **महामना का आत्मनिर्भर भारत**	75-79
9.	डॉ. चन्द्रमौलि त्रिपाठी **प्राचीन भारत में कराधान**	80-87
10.	डॉ. नवनीत सारस्वत **उदारीकरण के दौर में भारतीय सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगः एक मूल्याँकन**	88-95
11.	डॉ. हर्ष मणि सिंह **स्वराज के पचहत्तर वर्ष और भारतीय कृषि**	96-101
12.	डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र **भारत में बेरोजगारी : कारण और निवारण**	102-107

सम्पादकीय

जब हम प्राचीन काल की अर्थ-व्यवस्था के विषय में विचार करते हैं तब यह समझना आवश्यक हो जाता है कि मानव समाज में आर्थिक गतिविधियाँ क्यों और कैसे प्रारंभ हुई होंगी। मानव में सामाजिकता के साथ ही आर्थिक गतिविधियों का भी प्रारंभ हुआ होगा, क्योंकि एकाकी मानव अर्थ का संचारी नहीं हो सकता। अर्थ के संचरण के लिए समाज की आवश्यकता होती है। समाज के स्वरूप, संस्कृति एवं चिंतन के प्रवाह के साथ आर्थिक गतिविधियाँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। समाज जीवन की जटिलताओं के साथ आर्थिक गतिविधियाँ भी जटिल होते जाती हैं, लेकिन अर्थ व्यवस्था पर चिंतन से पहले इस विषय पर चिंतन करना आवश्यक है कि व्यक्ति और समाज के जीवन में अर्थ की महत्ता क्या और कितनी है।

वास्तव में अर्थ-व्यवस्था संस्कृति एवं सभ्यता की आवश्यक उपादान है, उसके बिना सभ्य समाज की गतिविधियों की कल्पना ही नहीं की जा सकती, लेकिन अर्थ का उद्देश्य, मर्यादा और महत्त्व इन तीनों विषयों पर विचार कर जीवन में अर्थ के स्थान को निर्धारित करना पड़ेगा। हमारे प्राचीन ऋषियों-मनीषियों ने इस पर गंभीर चिंतन किया है और जब आधुनिक दुनिया की अन्य सभ्यताओं को लोग अर्थ-व्यवहार करना भी नहीं सीखे थे तब हमारी संस्कृति में अर्थ की महत्ता को समझ कर एक सुव्यवस्थित आर्थिक चिंतन और व्यवहार प्रारम्भ हो चुका था।

वैदिक ऋषियों ने धन-धान्य की कामना की है। उन्हें कभी भी दरिद्रता अभीप्सित नहीं है। वैदिक ऋषियों का कहना है कि सभी लोग धन-धान्य की इच्छा करते हैं।[1] वैदिक चिंतन में धन की इच्छा करना गलत नहीं है। वैदिक ऋषियों ने 'हम ऐश्वर्य और धन के स्वामी बनें'[2], 'मैं धनवान होऊं'[3] ऐसा भाव बार-बार विभिन्न मन्त्रों में व्यक्त किया है। साथ ही साथ उन्होंने यह भी व्यक्त किया है कि हमें कैसा धन चाहिए। उनका कहना है, 'शुभ लक्ष्मी मेरे पास रहे, पाप से प्राप्त लक्ष्मी को मैं दूर करता हूँ।[4] जो निन्दित लक्ष्मी मुझे पतित करती है, हे परमेश्वर! उससे हमें दूर रखो।'[5]

वैदिक शास्त्रों में मनुष्य के अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए चार प्रयत्नों का वर्णन है, जिन्हें चार

1 विश्वो राय इषुध्यति- यजुर्वेद 22/21

2 वयं स्याम पतयो रयीणाम्- ऋग्वेद 10/121/10

3 वसुमान भूयासम्- अथर्ववेद 16/9/4

4 रमन्ताम् पुण्या लक्ष्मीर्या पापीस्ता अनीनशम्- अथर्ववेद 7/115/4

5 या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा अन्यत्रास्मत्तामितो धा– अथर्ववेद 7/115/2

पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में जाना जाता है। धर्म, अर्थ और काम यह लौकिक पुरुषार्थ हैं, जबकि मोक्ष पारलौकिक पुरुषार्थ है। चाणक्य के अनुसार सुख का मूल धर्म है[6] लेकिन धर्म का मूल अर्थ है।[7] धर्म का अभिप्राय पंथ या मजहब के समानार्थक नहीं है, धर्म एक व्यापक अवधारणा है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार जिससे लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है।[8] महाभारत के अनुसार धर्म वह है जो प्रजा यानी समाज को धारण करता है,[9] एक सूत्रता में पिरोता है, सामंजस्य और व्यवस्था स्थापित करता है, जो सर्वांगीण अभ्युदय का कारक होता है वह धर्म है, लेकिन धर्म की धारणा के लिए अर्थ प्रधान कारक है। यदि अर्थ का अभाव हो तो व्यक्ति धर्म को धारण नहीं कर सकता। शास्त्रों में कहा गया है 'भूखा व्यक्ति कोई भी पाप कर सकता है, कमजोर व्यक्ति करुणा रहित हो जाता है।'[10] मानव जीवन में धर्म की धारणा के लिए अर्थ अनिवार्य है और यही नहीं काम की पूर्ति के लिए भी अर्थ आवश्यक है। मनुष्य में कामनाओं का होना स्वाभाविक है और वे काम भावना जो धर्म के अविरुद्ध हैं उसकी पूर्ति का निषेध नहीं है, बल्कि धर्म के आधार पर कामनाओं की पूर्ति कर वासनाओं का क्षय होने पर ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं- हे अर्जुन! धर्म के अविरुद्ध जो काम है वह मैं हूँ।[11]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में वैदिक काल से ही अर्थ के विषय में विचार किया गया है और लोक जीवन के लिए अर्थ की महत्ता को स्वीकार किया गया है, परन्तु अर्थ के उपार्जन एवं उपभोग में संयम का विचार करना भी भारतीय चिंतन का अनिवार्य अंग रहा है। केवल मानव ही नहीं सम्पूर्ण जड़-चेतन, प्रकृति और पर्यावरण को ध्यान में रख कर संतुलन स्थापित करते हुए अर्थोपार्जन का विधान है। हमारी संस्कृति यज्ञ प्रधान संस्कृति है। यज्ञ को मानव जीवन का श्रेष्ठतम कर्म माना गया है।[12] वह जगत के सभी भूतों यानी जड़-चेतन प्राणी और सभी दिव्य शक्तियों यानी देवताओं की आत्मा है अर्थात् इन सभी के मूल-तत्व यज्ञ द्वारा रक्षित और संपोषित होते हैं।[13] यज्ञ शब्द की यज् धातु से निष्पत्ति हुई है जिसका प्रयोग

6 चाणक्य सूत्र - 1

7 चाणक्य सूत्र – 2

8 यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि सः धर्मः – वैशेषिक सूत्र 2

9 धारणात् धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः। महाभारत कर्ण पर्व, 9/58

10 बुभुक्षितः किं न करोति पापं,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति। पंचतंत्र 4/15

11 धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।। श्रीमद्भगवद्गीता, 7/11

12 यज्ञो वै श्रेष्ठतम् कर्म- शतपथ ब्राह्मण 1/7/3/5

13 सर्वेषां वाऽ एष भूतानाम् सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञः – शतपथ ब्राह्मण 14/3/2/1

देवपूजा, संगतिकरण और दान तीन अर्थों में हुआ है।[14] सम्पूर्ण सृष्टि के जड़-चेतन तत्त्वों में जो सामंजस्य दिखाई देता है, वह एक प्रकार का यज्ञ ही है। ग्रह, नक्षत्र, तारामंडल आदि का एक निश्चित परिपथ पर गमन, ऋतुचक्र आदि का एक निश्चित क्रम में परिवर्तन यह सब एक यज्ञ है। प्रकृति के सभी जीवों में भी प्राकृतिक संगतिकरण (Harmonization) है। बस मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो अपनी गतिविधियों के लिए स्वतंत्र है, वह संगतिकरण के अनुकूल भी चल सकता है और प्रतिकूल भी, इसलिए भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि सृष्टिकर्त्ता ने सृष्टि के आदि में यज्ञ सहित प्रजा का निर्माण कर कहा इस यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त हो और यह यज्ञ तुम्हारे लिये इच्छित कामनाओं को पूर्ण करने वाला होवे।[15] भारतीय संस्कृति में मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में यज्ञ-भाव को प्रधानता दी गई। ऐसे किसी कार्य को करने का निषेध है जिससे व्यष्टि से लेकर समष्टि तक कहीं भी संगतिकरण में विकृति उत्पन्न हो। यह यज्ञ-भावना अर्थ के उपार्जन, विनियोग और उपयोग सभी क्षेत्रों में समान रूप से व्यवहार्य है। किसी भी प्रकार के उपार्जन और उपयोग के पहले यह पूरी तरह ध्यान रखा जाना चाहिए कि सृष्टि का संगतिकरण नष्ट तो नहीं हो रहा है। सामाजिक संतुलन, प्रकृति, पर्यावरण आदि में विकार तो नहीं उत्पन्न हो रहा है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है 'यज्ञ के अवशिष्ट अन्न को खाने वाले (ग्रहण करने वाले) श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो लोग केवल स्वयं के लिये ही पकाते हैं वे तो पापों को ही खाते हैं'।[16] स्वयं के लिए वही पकाता है जो यज्ञ का पालन नहीं करता।

अब प्रश्न उठता है कि यज्ञ की भावना का विकास कैसे होगा? यज्ञ की भावना का अधिष्ठान आध्यात्मिकता है। यह जगत क्या है, मैं कौन हूँ और जगत के साथ मेरा सम्बन्ध क्या है, यह चिंतन ही वास्तव में मनुष्य के कर्मों का निर्धारण करता है। जब जगत के कण-कण में, अभ्यांतर, सर्वत्र एक ही सत्ता का बोध होगा तब व्यक्ति के कर्म स्वतः यज्ञमय हो जायेंगे और फिर वह स्वतः किसी कार्य के पहले व्यष्टि से लेकर समष्टि तक सभी के विषय में विचार करेगा, लेकिन इसके लिए अध्यात्म की चेतना अवश्यक है। जब वह सम्पूर्ण जगत में ईश्वर को व्याप्त देखेगा तभी उसके अन्दर त्यागपूर्वक भोग की भावना जागृत हो सकेगी और वह किसी दूसरे की वस्तु का लोभ नहीं करेगा, जिसका आह्वान वेद में किया गया है।[17]

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में अधिकतम उत्पादन निषेध नहीं है, किन्तु ध्यान यह रखना है कि यज्ञ

14 'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु',. धातुपाठ - 1 /728

15 सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। गीता 3/10

16 यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। गीता 3/13

17 ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। ईशावाश्योपनिषद-1

प्रक्रिया बाधित न हो। वेद का यह निर्देश है कि सौ हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों में बाँट दो'।[18] व्यक्ति उत्पादन चाहे जितना करे लेकिन उतने पर ही उसका अधिकार है जितने से उसका पेट भर जाता है यानी उसकी आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं। जो अपनी आवश्यकताओं से अधिक संग्रह करता है वह चोर की तरह दंड का पात्र है।[19] भारत की प्राचीन अर्थ-व्यवस्था को यज्ञीय अर्थ-व्यवस्था कहना समीचीन होगा।

आज आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में हम ऐसी अंधी दौड़ में सम्मिलित है जिसमें अधिकतम उत्पादन और अधिकतम उपभोग की होड़ लगी है। जिस सकल घरेलू उत्पाद (GDP) को आर्थिक विकास का मापदंड माना गया है उसका आधार ही अधिकतम उपभोग है, चाहे उपभोग कोई अस्वस्थ होकर करे या प्रकृति और पर्यावरण को नष्ट करके। दुनिया का प्रत्येक देश जाने-अनजाने इस प्रतिस्पर्धा में सम्मिलित होने के लिए विवश है। अनेक पर्यावरण सम्मलेन, पृथ्वी सम्मलेन करने के बाद भी कोई भी देश न उत्पादन पद्धति में परिवर्तन कर पा रहा है और न ही उपभोग में। अमर्यादित उपभोग को बढ़ाने के नित्य नये उपाय किये जा रहे हैं। असंयमित उत्पादन पद्धति से पृथ्वी, प्रकृति और पर्यावरण अस्वस्थ हो रहा है और अमर्यादित उपभोग से मानव। जो लोग समझ रहे हैं, वे भी विवश हैं। उनकी स्थिति दुर्योधन की तरह है कि वे धर्म जानते हुए भी प्रवृत्त नहीं हो पा रहे हैं और अधर्म जानते हुए निवृत्त नहीं हो पा रहे हैं। आज दुनिया को राह दिखाने का कार्य केवल और केवल भारतीय आर्थिक चिंतन के माध्यम से ही हो सकता है।

'द जर्नल ऑफ़ इंडियन थॉट एंड पालिसी रिसर्च' का यह अंक भारतीय आर्थिक चिंतन विशेषांक के रूप में प्रकाशित हो रहा है। प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन के विभिन्न पहलुओं के साथ ही दीनदयाल उपाध्याय, मदनमोहन मालवीय एवं दत्तोपंत ठेंगड़ी जैसे मनीषियों के भारतीय चिंतन के आधार पर प्रतिपादित आर्थिक विचारों से भी अवगत कराने वाले आलेख इस अंक में समाहित हैं। आशा है यह अंक सुधी पाठकों के अन्दर भारतीय आर्थिक चिन्तन को और अधिक समझने एवं विचार करने के लिए प्रेरित कर सकेगा।

-डॉ.चन्द्र प्रकाश सिंह

18 शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर। अथर्ववेद 3/24/5

19 यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत से स्तेनो दण्डमर्हति।। श्रीमद्भागवतम्-7/14 /8

ECONOMIC THOUGHTS OF DATTOPANT THENGADI

Ravindra Mahajan[1]

INTRODUCTION- Dattopant Thengadi was a holistic thinker and a visionary social architect. He was the prominent Rashtriya Swayamsevak Sangh ideologue after Shri Guruji and Deendayal Upadhyay. He emphasized holistic thinking and presented economic thoughts in this perspective. Beginning with the need to define the policies of Bharatiya Mazdoor Sangh he ultimately wrote on the global economic policies. He thoroughly studied hundreds of Bharatiy and foreign books on various subjects such as philosophy, history, political science, economics, management, revolutions etc. He firmly believed that the basic Hindu darshan –philosophy and life-view - is comprehensive enough and stressed that only by retaining its root principles and a yuganukool or practical implementation of these eternal principles coupled with conducive knowledge - not just from the West but from all over the world - the task of nation- rebuilding can be carried out. He articulated this idea through his writings. He emphasized that Ekatma Manav Darshan (Integral Humanism)[2] —a yuganukool approach based on the eternal principles of Sanatan Dharma must be the basic national philosophy for rebuilding the nation and our policies in various fields of national life should be formulated in its light.

Some Fundamental Concepts:

Before elucidating on economic thoughts of Dattopant Thengadi, it will be appropriate to glance through some fundamental concepts emphasized by him.

1. Bharat, with Sanatana Dharma as its absolute reference, 'All is One' as its ultimate realisation and its continuously evolving socio-economic order in the

1 Ravindra Mahajan, former Akhil Bharatiy Sahasamyojak of Swadeshi Jagaran Manch 9969069492 auraent@gmail.com, Mumbai, 10.11.2019 inauguration of Birth Centenary Year of Dattopant Thengadi (translated from original Marathi by Sharmila Bhagwat)

2 Dattopant Thengadi Jeevan Darshan Volume 3, Editor: AmarNath Dogra , Suruchi Prakashan, New Delhi, 2015, (Hindi) p.19

light of the unchanging, eternal, universal principles, is eminently suited to play the role of Jagadguru[3].

2. Our destination[4] is the 'Param Vaibhavam', the pinnacle of glory, of the Hindu Rashtra.

 - The starting-point of the journey is the commitment to certain Articles of Faith like One People (Jana), i.e. Hindu; One Culture (Sanskriti), i.e. Hindu; One Nation (Rashtra), i.e. Hindu; One Country (Desha), i.e.Akhanda-Bharat; One Order (Vyavastha), i.e. Dharma-Rajya (not a theocratic state but based on values for social sustenance)

3. The integral approach[5] is a must for durable and desirable progress and development; the compartmentalised thinking, giving rise to value-free economics, is self-defeating.

4. He emphasized the Hindu thought process. ―We should keep in mind that the fundamental thought process should be our basis. Once the hypothetical philosophical and academic order is established the corresponding social reality can follow automatically –this is the western thought process. Observing and understanding the phenomenon in social reality and eventual development of conclusions and theories-- is the Hindu thought process. For this collective thinking is also essential[6].

5. Regarding standing on the firm base of history but without getting trapped into it and daring to look into and create future he says ―The Hindu nationalists know for sure that history without futurology would be fruitless, while futurology without history would be rootless. Our heritage enables us to be cautious without being conservative and dynamic without being adventurist.[7]

6. He reiterated the need for the integral order anticipated by Hindu way of life that seeks the balance and harmony between the materialistic and spiritual values of life[8].

3 Tisarya Paryayakade Anusarjan-Rupabandh of Dattopant Thengadi's book THIRD WAY. Anusarjak: Dr Bapu Kendurkar, Moraya Prakashan,Dombivli,1998 (Marathi) p.297

4 THIRD WAY by Dattopant Thengadi, Second Edition by Sahitya Sindhu Prakashan, Bengaluru. e-Book p.36

5 Ibid p.67

6 Ref.2, p.280

7 Ibid p.293

8 Ibid p.289

7. Dattopant Thengadi did not find it advisable or practicable to think in terms of a blueprint.[9] Practical thinkers like Manavendra Nath Roy, Deendayal Upadhyay, Swatantryaveer Savarkar, Marx or Lenin refused to present any utopia, because according to them, it was an exercise in futility….. A blueprint may be evolved in course of actual implementation in the light of the broad guiding principles of the basic ideology, and that too by a trial and error method.

GLIMPSES OF ECONOMIC THOUGHT

Dattopant summarized Hindu paradigm, in comparison to the Western one, in Quo Vadis, an introduction to the book 'Hindu Economics' by Dr MG Bokare.[10] These are the two entirely different paradigms with their entirely different valuesystems, institutional arrangements and parameters. Points under Hindu paradigm bring out a brief overview of his economic thinking

Western	Hindu
Compartmentalised thinking	Integrated thinking
Rights-oriented consciousness of others' duties	Duty-oriented consciousness of others' rights
Man - a mere material being	Man-a physical-mental-intellectual-spiritual being
Society, a club of self-centred individuals	Society, a body with all individuals therein as its limbs
Constant conflict between the individual, the society and nature	Complete harmony between individual, society and nature
The rape of Nature	Milking of Mother nature
Happiness for oneself	Happiness for all
Subservience to Artha-Kama	Drive towards Purushartha Chatushtya
Acquisitiveness	Aparigraha (non-possession)
Contrived scarcities	Abundance of production
Economy of rising prices	Economy of declining prices
Profit motive	Service motive

9 Ibid p.6 from Introduction by Bhanupratap Shukl
10 Ref.3, p.79

Consumerism	Restrained consumption
Monopoly capitalism through various devices	Free competition without manipulated markets
Economic theories centred around wage-employment	Economic theories centred around selfemployment
An ever-increasing army of the proletariat	Self-employment, The ever-growing Vishwakarma sector
Ever-widening disparities	Movement towards equitability and equality
Exploitation	Antyoday

Development Policy

The Western thinking is in direct contrast with the Hindu concept of progress and development. Dattopant started with the brief outline given by Shri Guruji (given below) on the development and further expanded on these points in his writings adding new dimensions as needed[11]. In his speeches at Thane Meet in 1972, Shri Guruji explained the basic Hindu view on socio-economic problems which can be summarized in brief as follows[12]:

1. The basic needs of life must be available to every citizen.
2. Material wealth is to be acquired, with the object of serving society which is but a manifestation of God, in the best possible ethical manner, and out of all that wealth, only the minimum should be used for our own purpose. Allow yourself only that much which is necessary to keep you in a condition to do service. To claim or to make a personal use of more than that is verily the act of theft against the society.
3. Thus we are only the trustees of the society. It is when we become true trustees that we can serve the society best.
4. Consequently, there must be some ceiling on the individual accumulation, and no person has a right to exploit someone else's labour for personal profit.
5. Vulgar, ostentatious and wasteful expenditure is a sin when millions are starving.

11 Future of Parliamentary System in India by D.B.Thengadi, Akhil Bhartiya Adhivakta Parishad, 1997, p.46-48

12 Ref.2, p.23

There must be reasonable restrictions on all consumption. 'Consumerism' is not compatible with the spirit of the Hindu Culture.

6. Maximum production and equitable distribution and restrained consumption should be our motto; national self-reliance, our immediate goal.
7. The problem of unemployment and under-employment must be tackled on war footing.
8. While industrialization is a must, it need not be the blind limitation of the West. Nature is to be milked and not killed. Ecological factors, balance of nature and the requirements of the future generations should never be lost sight of. There should be an integrated thinking on education, ecology, economics and ethics.
9. Greater stress should be laid on the labour-intensive rather than the capital-intensive industries.
10. Our technologists should be required to introduce, for the benefit of the artisans reasonably adaptable changes in the traditional techniques of production, without incurring the risk of increase in unemployment of workers, wastage of the available managerial and technical skills, and complete decartelization of the existing means of production, and to evolve our own indigenous technology with great emphasis on decentralization of the processes of production with the help of power, making home, instead of factory, the centre of production.
11. It is necessary to reconcile efficiency with employment expansion.
12. Labour is also one form of capital in every industry. The labour of every worker should be evaluated in terms of share, and workers be raised to the status of shareholders contributing labour as their share.
13. Consumer's interest is the nearest economic equivalent of national interest. Society is the third and more important party to all industrial relations. The current Western concept of 'collective bargaining' is not consistent with this view. It should be replaced by some other terms, such as, 'National Commitment' ,i.e., the commitment of both, the employers and labour, to the Nation.
14. The surplus value of labour belongs to the nation.
15. There need not be any rigidity about the patterns of industrial ownership. There are various patterns, such as, private enterprise, state ownership, cooperatives, municipal ownership, self-employment, joint ownership (state & private),

democratization, etc. For each industry the pattern of ownership should be determined in the light of its peculiar characteristics and the total requirements of the national economy.

16. We are free to evolve any variety of socio-economy order, provided it is in keeping with the basic tenets of Dharma.
17. But changes in the superstructure of society will be of no use if the mind of every individual citizen is not moulded properly. Indeed, the system works ill or well according to the men who work it.
18. Our view of the relation between individual and society has always been, not one of conflict, but of harmony and co-operation, born out of consciousness of a single reality running through all the individuals. The individual is a living limb of the corporate social personality.
19. The Sanskaras of identification with the entire nation constitute the real, social infra-structure of any socio-economic order.

Values and Incentives

Consideration of values and incentives is very important while implementing the process of development. Dattopant says, "The Bharatiya culture evolved a coordinated system of materialistic as well as non-materialistic values of life which together served as an incentive for individual development. As it is well known, the artha and kama constituted the materialistic values which were blended finely with non-materialistic values of dharma and moksha. The material aspect was neither ignored nor glorified. Consequently, the incentive was also of two types-materialistic as well as nonmaterialistic; material gains and enjoyment, and social status and recognition based on the non-materialistic values. Everyone was free to follow either of the two with the proviso that the sphere of enjoyment and that of social status would invariably be in inverse ratio. The higher the social status, the narrower would be the sphere of enjoyment; the wider the sphere of enjoyment, the lower would be the social status. There was perfect equality in society in that the total quota of enjoyment and social status put together would always be the same for every individual, though the ingredients of the quota would differ from man to man depending entirely on one's own voluntary choice[13].

13 Ibid p.25

Appropriate Technology

Technology plays a pivotal role in the process of development. Technology develops constantly in all fields all over the world. There is no need to redevelop it. We should assimilate knowledge from all people. He pleaded for a balanced approach towards technology and wrote "It is necessary to conduct research in modern as well as traditional, indigenous technology with a view to –

1 Evolving a National Technological Policy to determine what portions of Western technology are to be adopted, what others to be adapted, what others to be rejected, and the areas in which evolution of (new) Bharatiya technology is imperative.
2 Scrutinising the traditional technology to ascertain what portions of it are adaptable to modern conditions.
3 Developing our own indigenous technology in consonance with our sociocultural pattern taking this precaution that it should lead to decentralisation of the process of production; exploring the possibilities of converting home, instead of factory, as a production unit with the help of power.
4 Introducing for the benefit of our village artisans and craftsmen, appropriate modification in the traditional techniques of production, without enhancing the risk of (a) increase in unemployment, (b) wastage of available managerial and technical skills, and (c) complete decapitalisation (partial decapitalisation is understandable) of their existing means of production[14].

He also laid stress on the following points .

1 Foreign governments and companies should not have monopoly powers regarding technology resulting exploitation of Bharatiy entrepreneurs and consumers.
2 Proper Control or ban on techniques that are harmful to environment.
3 Appointment of Technological Ombudsman on national level.

Agriculture

1. Agriculture should be given prominence in the economy.
2. Concessions given to the industrial sector should also be suitably extended to the agriculture sector.
3. Grants should be given directly to farmers rather than to manufacturers and

14 Ref.3, p.86

suppliers of inputs like seeds, fertilizers etc.

4. A five year plan should be devoted to agriculture itself. This should be utilized to prioritize issues pertaining to agriculture such as investments in agriculture, irrigation, agri-inputs, remunerative prices for agricultural goods, proper development and regulation of agricultural markets, developing technology and making it available through effective extension network, creating enough storage system of warehouses and cold storages, all-round development of farmers involved directly in farming and generally safeguarding their interests and other factors of management. This should be accompanied by making proper policies, necessary changes in law, increasing direct budget expenditure on agriculture, giving importance to rural economics and above all cultivating a right mind-set to give prominence to agriculture.
5. While fixing price of farm products based on expenditure, labour of the owner farmer and his family should be included in the expenses as manager and direct labourer[15].
6. There should be a balance between the price of farm products and cost of manufactured products in industry (Terms of trade).[16]
7. Dattopant Ji was founder of Bharatiya Kisan Sangh (BKS) and laid down that BKS should work for the progress of the entire village as one family. He stated "We don't have faith in class struggle. It is non-applicable. Government will do everything and that would lead to progress of country –this is not the right notion. We have faith in the power of people and that will control the political power as well".[17]

Industry

He was in favour of the industrialization of the country but he was insistent that instead of blindly following the West, industrialization should be carried out as per the needs of the country and in our own way. Some of the important points put forward by him are:

1 He founded Bharatiy Mazdoor Sangh and its motto 'Industrialise the nation, Nationalise the Labour, Labourise the Industry (Rashtra ka Udyogikaran,

15 Ref.1, Vol.8, p.18
16 Ibid p.19
17 Ibid p.56

Sharamikon ka Rashtriyakaran, Udyogon ka Shramikikaran i.e. imbibing that national interest is supreme)' brings out the elements of industrial policy.

2 Maximum decentralization of large and medium industry in household units making home, the centre of production.

3 Use of appropriate technology and ensuring environment protection.

4. The ownership of the industry should be decided on practical considerations. As per the needs of the industry and in the interests of the country the ownership can be with government, cooperative, local government, private or joint ownership by government and private.

5. He demanded integrated (ekatmik) economic policy including production policy, income policy, price policy and wages policy in October 1968.[18]

6. Observing the maladministration of the banking sector that provides the capital to industries, he suggested establishing Swayatta Vittiya Nigam (Autonomous Financial Corporation) way back in April 1971. Banks Board Bureau, an autonomous government organization has now been established in February 2016 to improve the management of government owned banks.[19]

Labour Policy

The success of Bharatiya Mazdoor Sangh (BMS) itself demonstrates that a nationalist labour movement without foreign ideology can flourish in India. Dattopant proclaimed some basic ideological points[20] in the very inaugural meeting of Bharatiya Mazdoor Sangh on July 23, 1955.

1 The interests of the country come first, and then the interests of industry and labour and in that order.

2 BMS will be a non-political labour organization, an organization of workers, for workers and by workers that will be far away from party politics.

3 It will be based on the Bharatiy economic thought and culture.

4 Structure of society that is free from exploitation and abuse and based on justice and harmony.

5 Honest works for the upliftment of dalits, oppressed, neglected and downtrodden persons in society. While talking on labour policy and advising workers he

18 Ibid. vol. 2, p.6

19 Ibid. vol. 4, p.62

20 Ibid. vol. 1, p.105

did not limit his thinking about issues directly concerning workers alone but contemplated on the economic life of the entire country and total national life. Some examples:

1 'Industrialise the nation, Nationalise the labour, Labourise the industry' these slogans by Bharatiya Mazdoor Sangh gave apt answer to the slogan 'Nationalization of all industries' by the Communists. BMS' idea of 'Labourisation' of Industries promoted an idea where workers would collectively own and manage industrial units.

2 BMS' slogan 'We will work in the interest of the country and take full wage for the work done (Desh ke hit me karenge kaam, kaam ke lenge poore daam)' was an answer to the slogan by Communists 'whatever may be the difficulties, our demands must be fulfilled' (Chahe jo majburi ho, hamari mange poori ho).

3 Instead of 'capital-oriented economic structure' he demanded 'labour-oriented economic structure' to eradicate poverty and unemployment. This expression brings out major aspects of BMS goals.

4 Efficiency and productivity are important but it is essential to take measures to retain employment.

5 Considering labour as capital and with proper valuation of work of workers, workers should be given a share in profit, participation in management and some ownership.

6 The nation should have right over the surplus value created in production process. The owner and workers should not grab it exclusively for themselves.

Globalization

While writing an introduction to Dr. Daya Krishna's book 'Swadeshi View of Globalization' (pp.viii-ix), Dattopant wrote "Genuine 'Globalization' is a part of Hindu heritage. In ancient times we always considered ourselves as part and parcel of the entire humanity. We never cared to carve out for ourselves a separate identity. We identified ourselves with the entire mankind. 'The whole earth is our family' वसुधैव कुटुम्बकम् (Vasudhaiv Kutumbakam) - has been our motto. That is why the term 'Hindu' has no antiquity; it is not to be found in ancient literature…..

But now the roles are reversed. 'Globalization' is being preached to us by those who are known to history for their imperialistic exploitation and even genocide. Satans are quoting Bible. Hegemonism parading itself as globalization!

As a matter of fact, the measure that could have substantially helped the process of genuine globalization was the reconstitution of the United Nations with additional representatives of religious groups, ethnic groups, transnational trade unions, environmental movements, human rights associations, welfare organizations, and other appropriate agencies from civil societies.

But globalization today has become a symbol and means of capitalist greed, looting and exploitation. Constant attempts are on for selfish gains and to obtain monopoly in market by hook or crook.

According to Dattopant the thought of Swadeshi and mutual cooperation among the countries in the southern hemisphere would guide us to march ahead. Strengthening the system of UNO would perhaps enable to counter unjust systems. At the same time it should be ensured that the interests of the country are not ruined bowing under any pressure.

World Trade Organization

He opposed the World Trade Organization because it became a means of exploitation of developing and under-developed countries. Rules and regulations are essential for world trade but they should be fair and equal to all countries. They should not be unreasonably arduous. Since the rules are not such, he opposed WTO at the formative stage itself.

Swadeshi

Dattopant defined Swadeshi as the practical manifestation of patriotism. This is a very appealing definition of Swadeshi agreeable to all and brings out the national spirit and the intent of action. However, he explained that patriotism does not mean turning your back to other countries but, following the principle of Ekatma Manav Darshan (only one consciousness residing among all humanity.), we are always ready for international cooperation based on equality and mutual respect.

He wrote “It is wrong to presume that 'Swadeshi' concerns itself only with the goods or services. That is more an incidental aspect. Essentially, it concerns the spirit determined to achieve national self-reliance, preservation of national sovereignty and independence, and international co-operation on equal footing.... 'Swadeshi' was not merely an economic affair confined to material goods but a broad-based ideology

embracing all departments of national life.[21]

While speaking on Swadeshi economic policies he emphasized the following points:

1 Value based competition and cooperation
2 Economic equality and opportunity
3 No exploitation of nature but milking of nature
4 Self- employment and not just salaried employment

Apart from these he frequently talked about the following points too:

5 Our paradigm of progress and economic policy to be in keeping with our culture and social life. i.e. family system, ethics, restrained consumption, environment friendliness, care of non-active members of society (children, aged and handicapped), stress on savings, and balance between decentralization and centralization
6 Appropriate technology
7 National self- reliance (not self-sufficiency)
8 Fulfilment of basic needs-food, clothing, shelter, education and health
9 Importance of not just economic stimulus but other non-economic incentives
10 Antyoday (uplifting of the weakest section of the society)

Consumer

1 Dattopant stressed that the consumer interest is closest to national interest.
2 Proper consideration should be given to consumer interest in all the economic affairs and representatives of consumers should be accorded a place in all economic deliberative and decision-making bodies and fora.
3 Selling price should be printed on every product and also the cost of production of that product. He put forward this demand through Akhil Bharatiya Grahak Panchayat and Swadeshi Jagaran Manch. He believed that this will ensure proper check on profiteering by manufacturers and retailers in the country. The same rule should be applied to foreign goods as well.[22]
4 He also called for publishing cost audit reports of the companies and making available copies of the reports of Bureau of Industrial Costs and Prices.[23]

21 Ref.3, p. 176
22 Ibid. p. 60
23 Ibid. p. 60

Third Way

In the background of the withering away of Communism and the probable collapse of Capitalism sooner than later, the search for a 'THIRD WAY' is already on the radar of Western countries including the United States. Peter Drucker and Paul Samuelson and other thinkers had foreseen the inevitability of the collapse of capitalism, though their public expressions were sufficiently guarded.

Dattopant says, 'We must conceive our own model of progress and development in the light of our culture, our past traditions, present requirements and aspirations for the future.

The tradition of ever changing socio-economic order in the light of the unchanging, eternal, Universal Laws of Dharma, is the foundation of the process envisaged by Hindu vision of life. That is why the need to create integral national consciousness mentioned earlier to focus on traditional Hindu ethos. Any alternative of development that is not in keeping with the cultural core of society would not be beneficial to society.[24]

Clamour of mankind for Third Way - After the pathetic failure of Western ideologies, the destiny is prompting Bharat to provide the new leadership to the world groping in darkness. Mankind is eager for the new order that is called 'THIRD WAY'. The moral and god-entrusted responsibility to usher in this Third Way, which in fact is the only way, rests on Bharat. Only, the group of patriots dedicated to the goal of national reconstruction is eligible for this work. They will play a pivotal role in creating a new comprehensive world view (Weltanschung)[25]

He opined that Ekatma Manav Darshan (Integral Humanism) is the third and the only way.

Concluding Remarks

Dattopant has written extensively on various economic aspects and has also provided guidance in numerous abhyasvargas (training sessions). This article includes some of his important thoughts. Swami Vivekananda explained Vedanta in the West in the practical form (Practical Vedant). Dattopant used the words science (shastra) and applied science (upayojit shastra). He explained everything in the light of Sanatan

24 Ref.2, p. 46
25 Ibid. p. 279

Dharma, Ekatma Manav Darshan or holistic thought perspective. His reflections are echoes, extension and elucidation of the thoughts of Shri Guruji (Golawalakar) and Deendayal Upadhyay. However, his innovative guidance proved useful for the new scenario as well (globalization, liberalization etc.). He initiated many organizations and his thoughts were very practical based on the direct experiences in those fields. That is why he holds a distinct position of an ideologue of first rank as well as a social architect who managed a perfect harmony between principles and practice.

FOUR OBJECTIVES OF MAN'S LIFE AND CORPORATE SECTOR

Dr. Awadhesh Sinha[1]

Teaching is insemination of ideas, ideals and influences from a person to another person. In this process, the medium plays a vital role. Receptivity of mind and situation contribute a lot in the process. Mother is the first teacher. Father and other kindly people may be in secondary or tertiary roles. Just after impregnation, the formation of a child and its shape begins to take shape in mother's womb. Gradually the child starts gaining in receptivity and sensitivity. In some months, it is able to decode what is transpiring between its mother and father in their secret communications. It goes; Abhimanyu learnt how to make inroads in a very complex martial warfare, fondly known as chakra-vyuh when he was in his mother's womb. But he was not able to learn the art of getting out of the perilous martial circle that cost his life. India has been the land of a large number of austere and enlightened persons since the Ages of Yore. Many of these enlightened couple start inseminating noble ideas and ideals to their fledglings in form of interesting folktales, stories, lullabies. Through the story of hard and patient life of Sudama, they try to instil into their children habits of austerity and patience during the period of trying time. Similarly from the stories of King Harishchandra's truthfulness, they try to inculcate into their children habits of truthful and austere life. The stories of Shivi and Dadhichi, inspire them to imbibe the spirits of justice, sacrifice and truthfulness even at the cost of life. Through the inspiring stories of Lord Rama's life, children learn the noble qualities like being obedient to elderly people. It also teaches them to have love for all, but hatred for none. From the story of Lord Rama, children learn to be bias-free, fearless, truthful, and selfless throughout their life. The story of Nal and Neel's life teaches children to be humble and fully devoted to one's master or friend even after great achievement. Hanumanji is the symbol of life-long devotion to his master. Strong

1 Retd. Associate Professor, J.M. Patel College of Arts, Commerce and Science (R.T.M. Nagpur University), Bhandara-441906 India

will and determined action win all. Large armies of Lord Rama consisted of bears, monkeys wolves, tribals etc and so on. This indicates unity among diverse members of society leads to success. From Vibhishan children may learn the lesson of leading an ethical, truthful and fearless life. From the very beginning of Indian civilisation there have been emphasise on a meaningful life given to the happiness of one and all. Ostentatious and pretentious life has been in little craze. Maharishi Vasishta set an example of a simple life and noble thought. Luckily he was bestowed with Nandini which could fulfil all his wishes and needs, the moment he made a wish for them. But he would use it in rare cases. Once Maharishi Vishwamitra was returning from the battle-field with a large number of soldiers. He came across the hermitage of Maharishi Vasishta, his friendly figure. Maharishi Vasishta welcomed his friend and his large army and arranged food and comfortable stay for them at night. In the morning at the time of his departure Maharishi Vishwamitra asked his friend how could he make so nice arrangement for him and his vast army, with his poor resources. Maharishi Vasishta told that, it is Nandini which made urgent arrangement for them. Vishwamitra muni made an explicit desire for that divine cow. But Maharishi rejected the demand. That spoilt amicable relationship between the two friends for so many years. The unpleasant story reveals that ostentatious desire, ultimately leads to sorrow. In the 75th chapter of Adi-Parva King Yayati says that desires for indulgences and wealth can not be met and pacified anyway. The more Man gets the more he yearns for.

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।
पृथिवी रत्नसंपूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्।।[2]

(विषय भोग की इच्छा विषयों के उपभोग से कभी शांत नहीं हो सकती। घी की आहुति देने से अधिक प्रज्वलित होने वाली आग की भांति वह और ही बढ़ती जाती है। रत्नों से भरी हुई सारी पृथ्वी, संसार का सारा सुवर्ण भंडार, सारे पशु और सुंदर स्त्रियां यदि किसी पुरूष को मिल जाये, तब भी सब के सब उसके लिये पर्याप्त नहीं होंगे, वह और भी पाना चाहेगा। ऐसा समझकर शांति धारण करें-भोगेच्छा दबा दें।)

Desires do not die down by frequent indulgences. Pouring down of ghee on burning fire, does cause blazes but not quell fire 50. All gold and precious gems in earth's treasure -troves as well as all women of ravishing beauty and animals of

2 Mahabharat Aadi-Parva. 75th chapter/.shlokas 50-51. Geeta Press. Gorakhpur.

various charms would not satisfy a lusty and greedy man. He would keep craving for some more. So it is wiser to remain peaceful by quelling lustful desires.51. It goes,' contentment is the best of riches. Above written two shlokas from the Mahabharat unearth where lies the happiness. In other words, what makes man happy.The gist of the Geeta is well expressed in the 54th shloka of 18th chapter :'

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।[3]

(प्रसन्न मन वाला योगी न तो किसी के लिये शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। समस्त प्राणियों में समभावना वाला योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है।)

That person is looked upon asa yogi who feels the presence of God in each and everything. He is past sorrow and joy. He finds One in many, and Many in One. Finally such person becomes one with eternity. The Geeta and the Ramayan are looked upon as great books of Hindus. The first one preaches to practice dispassion in life and the latter instils into the cult of love in life. It feels, living and breathing presence of God in each and everything. Sudden showering of ennobling grace on the bandit, Ratnakar turns him into a sage. Surge of kindness into Ratnakar's heart, at the sight of the dying spouse, its mate is lost into inconsolable yells that cause burst of poetry from Ratnakar's throat transforming him into Adi-Kavi Valmiki. Lord Ram was averse to a pretentious life. One can lead an ideal life by following the cult of love and leading a dispassionate life.

It goes, 'Knowledge is information; information is money, and money is power.' To be much more condensed manner, 'Knowledge is power'. Since the times of Yore, a shloka reflecting the same kind of idea says : 'विद्या परमधनम्'. Knowledge is the best of riches. It protects man during the hours of crisis. Sudden sparks of wisdom rescue man from unprecedented crises and troubles. So Knowledge/ wisdom is looked upon as the greatest of wealth. Hitopadesha, is a great work of ancient origin. It celebrates the glory of knowledge and wisdom. In eulogies of 'vidya', it says that learning and wisdom has ennobling effect on the life of man. It purges him of arrogance and makes him eligible in the hierarchy of a noble society. The moment, the society finds him fit in the scheme of society, he becomes fit to earn wealth. With the acquisition of wealth religiosity creeps in him. He starts sharing his resources with others. The moment he becomes generous, he forgets others' bad treatment and

3 Srimad-Bhagvad-Geeta. 18 / 54. Geeta Press. Gorakhpur.

forgives them. These changes make him a completely transformed man. He becomes a Brahma-bhootatma that neither mourns nor desires.

विद्या ददाति विनयम्, विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति, धनात् धर्मं ततः सुखम्।।[4]

Hitopadesha is an work of enduring value. It consists of four segments: *friendship and its advantages, friendship turning into enmity, estrangement, and compromise.* It reads like *Panchatantra,* and it is rife with ethical value and lesson. Vidya has an ennobling effect on the earnest learners. They become humble and polite. Humility makes man eligible and acceptable in society. Acceptability opens gate wide for him, to use his skills and knowledge for the betterment of the society. The sense of better-ness enthuses him to work more to earn more for himself, his family and so on. In course of time his hunger for money dwindles. A stage comes in his life when he begins to spend his all extra penny for the happiness of one and all. From his mind the sense of otherness disappears, and he begins to see One in all. His unflinching faith in his dharma leaves him completely transformed. The more he gives, the more grows his sense of religiosity. Man (नर) becomes God (नारायण) for him. All sorts of strife vanishes from life. All of a sudden, flashes in his minds Maharishi Vyas's definition of good deed and bad deed :

'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनम् द्वयम् ।
परोपकार पुण्याय पापाय पीडनम्।।'[5]

To Maharishi Ved-Vyas, 'he finds only two things worth learning and practising from eight Puranas : 'doing good is righteousness; doing bad is a sin.' It means, goodness in a man propels him to rise high from the earthly plane. Finally a day comes, when man is past of painful desires and yearnings. The state of complete desire-lessness turns him into a happy soul which one would call, a man of liberation and realisation. Such man is free from the bondages of life. *Dharma, Artha, Kama and Moksha are four objectives of man'slife.* Every devout Hindu tries to achieve deliverance in his life.

Warding off distractions of the superficialities and having a training to reach the centre of reality, leads man to the journey of his inwardness. Spending longer hours in meditation would help him know himself. Self discipline and meditation

4 Narayan, Hitopadesha, Shloka 6.

5 संस्कृत सुभाषितम्

inculcate into man a habit of looking deep into life. In addition, they help him develop piercing intellect that enables him to forecast the shadows of the coming events before him. Not only this, he establishes a sense of oneness with his surroundings. Seeing life in its totality, helps man become a broad -souled personality. Such persons are truthful in their thoughts and behaviours, and so are their taught. Their vision of life is multidimensional. They believe in oneness of life.

Rousseau has rightly said,' Man is born free but everywhere he is in chains'. Enchainment causes fear that leads to distortion and complication of personality. It's said, God has made man in His own image. It means, man oozing with divinity is simple, easy, straightforward, and bereft of the sin of fault-finding. Tulsidas writes about whom God loves most:

निर्मल मन सो जन मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।[6]

Even during ancient times most of the kings would vow to be non-discriminating in thoughts and actions. While initiating a King, the Chief- Priest would declare that the King is the supreme head of the state with unbridled powers till he is judicious and impartial. The moment he crosses the redline-drawn, he would become accountable to the Chief-Priest of the state. As per the terms of oaths taken, the religious head would try and punish him. Ruling over a state in judicious manner is not so easy affair either in monarchy or in democracy. The former fears abrupt break down of law and order in the State, on flimsy grounds. So, most of the kings would pose to be very harsh and strict in matters of violation of law and order. They would pass exemplary harsh punishments on matters like revolt or incitement. In democracy, clumsy procedural hurdles get delayed justice. Only in cases like rebellions, treasons, heinous crimes like cold blooded murders, rape followed by murderous cruelty etc., the Court would pass corporal punishment or life imprisonments, subject to appeals and mercy petitions. In democracy, the accused are given ample opportunities to defend themselves. Unfortunately too much of generosity spoils the spirits justice. The justice-seekers feel defeated due to too much lingering processes and intricacies of the legal system.

Knowledge and wisdom rids man of the majority of problems of life. Therefore it is something covetous and worth having. In the ancient times our sages and seers, thinkers and philosophers were not hungry of money. They would share their knowledge and words of wisdom for nothing. They lived on the humble collections of food by their disciples. They shared whatever alms their disciples brought to them

6 श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस, सुंदरकांड, गीताप्रेस, गोरखपुर-5/44

as food. In lieu of it they would train them and share with them, their knowledge and wisdom. But in the present material world everything is sale-able. Even knowledge is on sale in the market. Job- oriented knowledge sells like hot cakes. On the prospect of a job fetching high salary and perks, wealthy students are ready to pay hefty amount to get them admitted in reputed private institutions. But many talented poor students are left behind in such job markets. Sometimes their jobs are not up to their satisfactions. Underlining the grim reality of monetary constraint, once our former prime minister said in the parliament,'money does not grow on trees.[7]' It has to be earned. Man earns it by shedding sweats. Gone are the days of mendicancy. By spreading begging bowls, no healthy man would like to get a job at the cost of his honour and respect. However, thousands of Indian nagas are still subsisting on frugalities received either from their mentors or on the gifts of kind donors.

In the ancient days, most of seers and sages would lead a family life. They would grow grains and other eatables on the small patches of their land. They would also keep benign animals like cows for milk, and horses for ride to go to distant places. In addition, they would also enjoy patronage of royal families and rich persons. For this favour they would teach their patron's progeny at hermitages, along with their own children. In case of any shortfalls, they would send their progeny as well as their disciples to the houses of richer persons living in the vicinities nearby, to beg alms and collect fruits, and dry logs from the forests. Mendicancy was inevitable part of the ancient education system. Begging was an ennobling practice. In the 'Gurukul' system of education, 'gurus' would select earnest learners from different segments of society, i.e., right from humble and polite Brahmins to kins of the Royals. This does not mean that education was denied to the earnest learners of remaining segments of the society. However, there was a perception that the selection procedure of students was prejudiced to some extent, during those days. Most of the disciples belonged to upper segments of the society. Money and position also played limited roles in selection of students. Disciples belonging to the royal and rich family would also go to beg alms along with their poor brethren. To instil a sense of nobility and humility, into disciple minds, begging was made a compulsory part of their daily routine. Unpleasant and harsh replies from some givers oft tested their patience and forbearance of the mendicants.

In his Arthashastra, Kautilya presents a kind and benign frame of mind of the

7 A part of former P M Manmohan Singh's speech, made as P M in the parliament

rulers with respect to their subjects. Let us look at following shloka which exhibits what the King feels about his people:

'प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानाम् च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानाम् तु प्रियं हितम्॥'[8]

(In the happiness of his subjects lies the King's happiness; in their welfare his welfare. He shall not consider as good only that which pleases him, but treat it as beneficial to him whatever pleases his subjects).

The English translation of the shloka looks like the Prelude of the Indian Constitution which is people-centric. To King, what people think good and beneficial for themselves, are good and beneficial to him(king) also. In brief, people's will was supreme to an ideal king. Maharishi Ved-Vyas pays his respects for the people at large. To him, God and man are adorable. In the Mahabharat, he salutes both. 'नमो नारायणं नमस्तुभ्यं नमो नरो-नारायणं' It means: the moment, man overcomes his sense of otherness, he becomes one with God.

सोहंस्मि इति बृत्ति अखंडा; दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा; तब भव मूल भेद भ्रम नासा।[9]

I am that Brahma. That unending feeling is the absolute illumination. Then dawns within me the realisation, that destroys the illusion of otherness, the main cause of worldly suffering. It seems, being inspired by the ideal concept of Ram-rajya, the makers of Indian Constitution, incorporated the right to equality as fundamental right. Now let us think over opinions of western thinkers as to what they feel about the statecraft and administration. In his translation version of The Republic by Plato, Benjamin Jowett presents Socrates' views as under: " Society arises out of the wants of man. His first want is food; his second a house; his third a coat. The sense of these needs and the possibility of satisfying them by exchange, draw individual together on the same spot; and this is the beginning of a state.… it takes the liberty to invent, although necessity is the real inventor. There must be first a husbandman, secondly a builder, thirdly a weaver, to which may be added a cobbler. Four or five citizens at least are required to make a city.[10]" The need-based gradual coming together of individuals leads to the emergence of a village, a town, a city, a metropolis and finally a state. It

8 Kautilya : Arthashastra, 1/18/1
9 Goswami Tulsidas: Ramcharitmanas. Uttarkand, 118/1.
10 Plato : The Republic. Translation by Benjamin Jowett, P.10

is true, need that binds together men in a bond of unity, so long as there is feeling of oneness and togetherness. The moment the binding bond melts or develops acrack of otherness, all is in trouble. So there must be a supreme authority under whose dictates everyone would work for the good of the city or state. It is the three basic necessities of life that bring togetherness in life. On fulfilment of one need, another crops up and so on. Finally things grow out of control of the state. To control the growing needs of man, a skilful manager is required to save the society from imminent collapse.

Plato further says in *the Republic*, 'The desire of society for the statesman's advice is taken for granted, that a good constitution is only possible when the ruler does not want to rule; where men contend for power, where they have not learnt to distinguish between the art of getting hold of the helm of state and art of steering, which alone is statesmanship, true politics is impossible[11].'' Saying something pleasing and satiating is easier but getting it done is much difficult. A statesman gives prompt advice on a subject, knowing well it is hardly going to be implemented by the ruler. Similarly a deceptively good Constitution allowed to be drafted because the ruler has no intention to implement its provisions.

Like life, a city keeps growing. To Plato, people keep rising higher on the conceptual levels. "They find themselves led on higher state in which 'no man calls anything his own, and in which there is neither 'marrying nor giving in marriage; and 'kings are philosophers' and 'philosophers are kings'[12]." People occupying high echelons of powers live in the imaginary world which is far removed from reality. Consequently they do not believe in the concept of ownership. So none owns anything. A wife is available without marrying. Amusingly their daughter becomes wive without being given in marriage to someone. In ivory towers of Plato Kings are found busy philosophising and philosophers are busy ruling the make-believe world of imaginations. In brief, Socrates, Plato and Aristotle were the main enlightened figures who deeply ruminated on subtle vexatious issues of the society. Amongst three, only Socrates was a true thinker who tried to delve deep into the inner- sphere of life. Plato was most famous disciple of Socrates but he lacked in deep insight and logical reasonings of his master. No systematic and elaborate account of the statecraft and economic world and art of administration are available in Plato's work,The Republic.

Aristotle happened to be Plato's disciple, though his areas of interest are

11 Aristotle, Politics : A Treatise on Government, P.6

12 Ibid.

different from those of his master. He is known for his single work, *Politics*. The title of the book itself is suggestive of its contents. Truly, its first half deals with his views on *Ethics* and latter half with issues related to *Politics*. However, the author has not drawn a distinct line of demarcation between the two. Each of the two keep on encroaching on each other's domain. In fact, Aristotle was a social scientist. He endeavoured to find out maximum good for human beings. Narrow considerations give birth to politics. If the politics cast unifying and elevating impact, it is taken to be regenerative. But narrow, lowly and negative ethical impacts cast degenerative impact on the politics of the day. Several ethical and political issues, detrimental to the health of the contemporary society, could not be redressed during Aristotle's life time.

They say, ' Jnan is the best of the riches'. It has become synonym of power and money. In the Ages of Yore, brute power affrighted man and it made the wealthy man cough up his precious treasure before the brute power. Acharya Vishnu Gupta (375-283 BCE) was born about a century later to Socrates. With the advancement of knowledge and its different branches, jnan occupies primal place of glory in social hierarchy. It is happy to note, Acharya Vishnu Gupta was born some years later to Socrates, Plato and Aristotle. Latter three are also known for their great words of wisdom and deep insights. They stand no match to Acharya Vishnu Gupta whose *Arthashstra* is looked upon as a compendium of all the *arthashastras* written by his predecessors. Due to his deep insight into life and the art of state administration, he is looked upon as a wizard in the field of economics and state administration. He had been not only teacher of King Chandragupta but also his dependable guide and advisor. Kautilya's views on the selection of the king and his training are still relevant. In consultations with the King and his advisors, he fixed the eligibility of Amatya, and other officers of the state, as well as their daily routine. Adequate safety and security arrangements were made for the officers on the duty. Similarly he had eagle- eyes on other activities of the state. Duties and accountabilities of various officers of the State, Vigilance and intelligence services, education, justice, defence, taxes, and funds generations, agriculture and mining, salaries and many other important topics were under Kautilya's supervision. His Arthashastra is still looked upon as a dependable guide in respect of State related issues. Money controls and guides most of the activities of man's life as well as the State. So, dexterous and skilful money management was essential. Strong and vibrant economy is must for the prosperity and happiness of the State as well as its subjects.

Desire propels man in the whirlpool of worldly activities. Money is instrumental

in fulfilments of various desires. Dharma stands for adopted works or professions which fulfilments make man happy. Satiation of desires adds to happiness. Finally man reaches a state of life, which is called Brahma-bhoot-atma during which man neither feels pangs of sorrow nor the flickers of happiness. This could be called the state of Moksha. Thus the four circles of life are meant for the liberation from the bondage of life. Achieving the state of desire-less-ness is Moksha. In brief desire-oriented action and money are pivotal parts of man's activities. (Dharm, Artha, Kaam and Moksha are known as four purusharthas or objective of life.) Action is never binding. It helps man overcome the bondage of life.

तत् कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्।।[13]

(कर्म वह है, जो बंधनों से मुक्त करे और विद्या वह है जो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करे। इसके अतिरिक्त जितने भी कर्म हैं, वे निपुणता प्रदान करते हैं।)

Action rids of bondage. Knowledge frees from enchainment. It paves way for redemption. Besides these two, rest others add to excellences. It is surprising, common people think it otherwise. To them karma leads to attachment. Vinoba Bhave, a saintly figure of Indian politics believed, ' God has given hands to work with, eyes to see with, ears to hear God's dictates tongue to remember Him, mind to meditate on. To him, Karma is the elixir of life. It is imperative on the part of man to learn some useful/ new arts and crafts to achieve excellences in life. Hence they say,' work is worship and duty is God. Vinoba ji was in favour of basic education. He wanted schools should impart as much instructions to students as is necessary for them to be able to read and write, to basic arithmetic, such as additions, subtractions, multiplications, divisions and miscellaneous. Only few ones having great aptitudes for mathematics, sciences and other useful branches of knowledge should be given higher educations. Remaining others should be imparted instructions and practical trainings in fields like carpentry, weaving, farming, animal husbandry, iron-works, shoe-making, fabrications, house constructions, art of pottery, food cooking, animal taming, horticulture and tailoring, food processing, nursing and such others which generate a large number of employments every year. They also contain problems of unemployment in rural areas. This restricts huge exodus of work forces in the places they were born at. The science that deals with the production, distribution and consumption of goods and services, or material

13 विष्णुपुराण, 1/19/41

welfare of human beings: political economy.[14] To be clear, economics deals with, not only monetary and fiscal problems but also with many ethical and social problems a-gripping the humanity. Hence Kautilya's Arthashastra deals with not only fiscal and economic aspects of life in details but also ethical, political, social and psychological aspects of life. In short it is more than economics. It is study of man in totality. It tries to take care of human beings in almost all aspects of human considerations, such as humane, rational, emotional geographical, philosophical, agrarian and cosmopolitan etc.

Kautilya's Arthashastra is a compendium of all the arthashastras written by scholars before him. It is not only a great work on economics but also on education which stands for making a complete man. I would say, Kautilya presents a comprehensive vision of protective and safe country in his Arthashastra. Ethical values and scriptural nuances are cohesive aspects of national policy. His Arthashastra feeds itself with Vedic and upanishadic values as well as teachings of Puranas, shastras, history, ethics and social sciences. Great writings of foreign travellers and historians also provide deep insights into life around. Here I would like to put the economic vision of Dr M G Bokare, a great scholar of economics in post Independence India. Despite his great contribution in the field of economics, he did not get his due during his life-time. Professor Bokare happened to be Vice- Chancellor of prestigious Nagpur University sometime about 1955. Though he was an ardent leftist, his work titled "Arthashastra" was popularised as 'Hindu Economics'. He apprised J K Galbraith of the fact that some Western Marxists merely believed in unwise and false boast. He let him know that the first work on economics is published in India, not in the West. This news was awesome and stunning to Galbraith. He appreciated the venture of the writer. He also told his admirers that the first book on 'Economics' published in India has found mention of economics in the ancient Literature. Another thing that highly disconcerted the majority of the Indian left-wing scholars was their unawareness of the vastness of number of labours working under the umbrella of Vishwakarma's banners. Amusingly these labourers are the makers of things beginning from needles to machines and instruments of gargantuan sizes as well as small huts for the poor, to sky-scraping palatial buildings befitting to the progeny of Goddess Laxmi. Their machines make a large number of refined food items, beginning from humble salt to various items of delicacies. Similarly right from humble paduka to head adorning crowns, coarse

14 The Macquarie Concise Dictionary. Eighth Edition. Sydney 2020

cloths and clothes to kingly apparels bedecked with gems, and costly metals. In brief almost all the items of man's need and use fall directly or indirectly under the domains of the devotees of Vishwakarma.

The King is the highest authority of his state. He is allowed certain privileges and prerogatives as well as pompous life style in respect of apparels, food and accommodation. Illuminating discussion with scholars at home and abroad is considered as his refined taste and temperaments. Nobody can question his decisions to bestow on awards and give rewards to deserving persons subject to the availability of funds. However it is hoped that his conduct must be beyond doubts and suspicion. Dhana Nanda King of Pataliputra met his fall on account of his dubious conduct and high-handed behaviour. Acharya Vishnugupta helped and guided Chandragupta Maurya in defeating Dhana nanda to have his personal revenge on the king. In case of questionable behaviour and unbecoming conduct the King was accountable to Dharma. Dharma had a system of trial for the king. It tried and punished him accordingly on finding him guilty.

Acharya Vishnugupta's Arthashastra is a comprehensive document on administration. It takes care of all sorts of problems relating to the highest level of the hierarchy, i.e., the King, the criteria and eligibility to be choose King, the initiation of a person a king, oath taking ceremony, his salary, privileges and prerogatives, his supremacy in the running of administration, his secretary and group of advisers or courtiers, royal class, gentry, ambassadors, monetary system treasury, teachers, priests, education system, supreme head of the Defence: infantry, cavalry and navy, warriors, role of intelligencers, traders, businessmen, artisans, goldsmith, farmers, farm-labours, service sector : milkman, grocery suppliers, gardeners barbers, washerman, shoemakers, scavengers, butchers etc., their eligibility, appointments, duties, salary, accountability, service taxes on different kinds of services was the main source of earning of the government. Defaulters and criminals were also fined in tune of the gravity of seriousness of their crimes. Businessmen doing business in home and abroad had to pay fixed taxes by the government. Similarly artisans, artistes, sculptors, entertainers and prostitutes had to pay taxes according to their capacities. For cruel crimes corporal punishment was given to criminals. In some cases fines and punishment both were awarded. Import and export were sources of earning of the government. They paid taxes on their goods according to rules. In case of suppression of needed informations, the defaulters were tried in appropriate tribunals and fined as

per rule.

It seems, before the advent of the Dark Ages, in the pall of dissension, slackness, ignorance, superstition, and happy-go-lucky life-style, arrogance and vacillating attitude, Indian rulers at large were caught. Being inured to debilitating luxurious life style, most of them had scanty respects for the wise words and teachings of our sages and seers of the past. Rife with doubt and disbelief they had mostly inimical attitude to each other. These undesirable habits opened door wide for the arrival of foreign invaders. Sadly most of the Hindu rulers were oblivious of Mahatma Vidur's saner words of wisdom.

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः।
श्रीप्राणधनदारेभ्य क्षिप्रं स परिहीयते।।[15]

('जो व्यक्ति धर्म और अर्थ का परित्याग कर के इंद्रियों के वश में हो जाता है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य, प्राण तथा स्त्री से भी हाथ धो बैठता है।')

Implicitly it means, a person must have complete control over h/er/is senses to be rich in ethical and religious values, material resources and wealth, failing which s/he may lose his better half and life as well. Wantonness destroys all : ethical values, religiosity, wealth, wife and even one's life itself.

It is sad that most of the left-wing economists pleaded ignorance when asked to express their views on the Indian School of Economics. They would sarcastically reply, they doubted if ever existed any of the type. They would gloatingly say that to the best of their knowledge the economics as a branch of learning never existed in India. To them Economics as a branch of learning came into existence only after the success of Labour Movement in Hay-market affair in Chicago in 1886. It is also known as May Day which is celebrated on 1st May internationally. But to their great dismay, they came to know that the first book on Economics titled," Arthashastra was published in 1955, by an Indian leftist scholar who talked in his Arthashastra about economics in the literature of the ancient India. To the discomfiture of most of the leftist scholars, Professor M G Bokare mentioned in his work about Indians celebrations of Vishwakarma Day on 17th September every year. It was rather humiliating for the Indian leftist scholars that they were even ignorant of the name, Vishwakarma itself, not to speak of the glorious story behind it. It was fairly bemusing to them, it was not born out of any bloody movement, nor of any labour movement against exploitation.

15 महाभारत, 5/34/60, गीता प्रेस, गोरखपुर

But is born out of sweet and kindly relationship and kinship existing between those who contributed their labour to those who invested their money, resources, talents and innovation for the good of the society. Nothing like domineering terms like employers or employees were there in currency in their working culture. Designations allotted to most of the labourers merely revealed their professional identities. They would share amount of profits equally. In case of any inequality in anyone's earning, there used to be some solid reasons. Needless to say great persons like Mahatma Gandhi, Vinoba Bhave and many others were true devotees of Vishwakarma. They were great votaries of independent life-style. They used to put on clothes made of their own hand- spun thread and cloth. Vinoba ji used to make his footwear with the leather of dead animals. He also advised his disciples to do so. He would say : 'hands for work, legs for walk and support, eyes to see and enjoy beauty of nature, ear to hear good things, tongue to recite Hari's name, and mind to meditate, and heart to treasure Prabhu' image.

During the last 3-4 decades India has become the centre of big Corporate

Houses like, 'The Ambanis', 'The Adani', The Tata',' The Birlas' and so on. The term Corporate stands for 'group of people authorised to act as an individual, especially in business'[16]. In near about last three decades, the term corporate has earned immense popularity as well as notoriety. Initially job-seekers looked upon it as a business house believing in fair -dealing, open-ness, appropriate wage, hard work, discipline, sophistication and performance. It is also supposed to be free from all sorts of red-tape-ism and favouritism. Sadly, of late it is infamously wanting in the last two qualities. To be rid of distractions on the count, I would like to attend to the topic. People at large are eager to know how the entry of corporate houses has bettered the economic conditions of educational institutions without harming the cause for which they are set up. It is a general perception that only a few educational institutions are properly caring for the cause of quality education in our country. Majority of schools / colleges/ universities could be called money minting or money wasting centres. Carol S. Dweck's in his recent work Mindset makes devastating attack in the chapter titled " Corporate Training : Are Managers Born or Made".(p.139.) He writes :

Millions of dollars and thousands of hours are spent each year trying to teach leaders and managers how to coach their employees and give them effective feed-back. Yet much of this training is ineffective, and many leaders and managers remain poor coaches.…Research sheds light on why corporate training fails…many

16 Oxford University.

managers do not believe in personal change. These fixed mindset managers simply look for existing talent- they judge employees as competent or incompetent at the start and that's that. They do relatively little developmental coaching and when employees do improve, they may fail to take notice, remaining stuck in their initial impression.[17]

The same holds good about the education imparted by schools, colleges, institutes and universities run by the corporate sector. There may be a few exceptions. To be true, most are gaining bad name for their money slicing activities and arbitrariness. Proper quality education are wanting in the sector. The worst-hit are poor parents and students whose money is misused for ulterior purposes, and as a result they suffer life long in the competition market. In fact, many education centres running different kinds of lucrative prestigious courses are not worthy of their names as reflected in their glossy brochures. Many institutes and business schools used to exist on papers and in fictitious names, not only in India but also in some developed countries where many Indian students suffered various kinds of hardships.

It would be dishonest on my part to say that the Corporate Sector is playing a role of spoiler on the life of its employees. To millions of its employees and their dependents it has opened unthought of doors of happiness and prosperity during some last decades. It has brought immense change in their life styles and material glories. Many of the harvesters of its richly boons have emerged as the lords of the green pasture which is still tempting the newcomers to join in the competitive race beginning with the say,' perform or perish.' Forget all in the race.The corporate schools or institutions groom their students in a love-lorn atmosphere. When these students become fully trained for their jobs, their attitude to their surroundings becomes rather indifferent and mechanical. They become oblivious of the welling love and warmth of their parents, brothers, kins and neighbours. They suffer from an impinging sense of loneliness. They care least for those who cared most for them. Most students turned into employees feel cheated and robbed. They do not have kind and sympathetic words for their bosses and mentors. To most of them, they have inimical attitude garbed under sophisticated words and so on. In brief the Corporate culture brought with it both, prosperity and intellectual poverty. We, Indians have to find a way out, sooner the better.

17 Carol S. Dweck, Ph.D. Mindset : The New Psychology of Success. Published in the United States by Random House, New York.

पं. दीनदयाल उपाध्याय का सामाजिक और आर्थिक चिंतन

डॉ. बजरंग लाल गुप्त[1]

दीनदयाल जी को जानने और मानने वाले लोगों के सामने सबसे बड़ी चुनौती दीनदयाल जी के विचारों के प्रकाश में नीतिगत और व्यवस्थागत परिवर्तन का संकल्प लेने की है। यह हमारे लिए चुनौती भी है और साहस भी है।

दीनदयाल जी के चार व्याख्यानों को एकात्म मानववाद के रूप में जाना जाता है। दीनदयाल जी ने कहा कि देश स्वतंत्र तो हो गया है, परन्तु स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी वैचारिक जगत में और नीति निर्माणकर्ताओं के मन पर पश्चिमी विचार, पश्चिमी परम्पराएँ और पश्चिमी संस्थाओं का प्रभाव है तथा उसी को देश और समाज के लिए वे आवश्यक मानते हैं। इन परिस्थितियों में भारत स्वतंत्र हो गया है ऐसा कैसे माना जा सकता है? इसमें भारत कहाँ है? बहुत से चिन्तक यहाँ बैठे हुए हैं उन्हें ज्ञात है कि आज से बीस-पचीस साल पहले किसी सम्मलेन में जाते थे, पत्र पढ़ा जाता था तो क्या होता था, पश्चिम ही पश्चिम के साथ बहस करता था। सारी परिकल्पनाएं (concept) वही हैं, प्रतिमान (paradigm) वही हैं, प्रतिमान परिवर्तित (paradigm shift) नहीं हुआ तो परिवर्तन कहाँ हुआ? दीनदयाल जी वे व्यक्ति थे जिन्होंने सन् 1965 में एक भारतीय विचार के साथ वैचारिक क्षेत्र में हस्तक्षेप किया। उस समय बोलने की कोई हिम्मत नहीं करता था, समाजवाद का बोलबाला था, कुछ लोग पूंजीवाद के विषय को लेकर चलते थे लेकिन सब पश्चिमी विचार के आधार पर चलते थे।

दीनदयाल जी ने कहा, भारत का और दुनिया का कल्याण होना है तो भारतीय संस्कृति के आधार पर होगा, इसलिए भारतीय संस्कृति को अधिष्ठान मान कर हमको अपनी बात कहने का साहस करना पड़ेगा। यह साहस दीनदयाल जी ने सन् 1965 में एकात्म-मानववाद के नाम पर किया। उनकी चार महत्वपूर्ण प्रस्थापनाएं हैं। पहली बात उन्होंने कहा कि विश्व दृष्टि को देखने का हमारा नजरिया क्या होना चाहिए? इसे अंग्रेजी में वर्ल्ड-व्यू कहते हैं। हम कोई भी शास्त्र पढ़ते हैं, किसी भी सिद्धांत का निर्माण करते हैं; उसके पीछे एक विश्व-दृष्टि होती है। जिस विश्व-दृष्टि के आधार पर आज के समय में पढ़ाई चल रही है, सिद्धांत गढ़े जा रहे हैं, नीतियाँ बनाई जा रही हैं उसे एक शब्द में कहना हो तो यह खंडित यांत्रिक विश्व दृष्टि है। इस

1 आर्थिक चिन्तक एवं सामाजिक कार्यकर्ता

सम्पूर्ण सृष्टि को टुकड़ों-टुकड़ों में मान करके विश्लेषण और विवेचन करते हैं। इसको यंत्र मान करके यंत्रवत विश्लेषण और विवेचन करते हैं। उसमें संवेदना कहाँ आएगी? उसमें समाज के साथ जुड़ने का भाव कहाँ आएगा? इसलिए दीनदयाल जी ने कहा कि पहला काम विश्व-दृष्टि को बदलने का करना पड़ेगा। कौन सी विश्व-दृष्टि है भारत की? दीनदयाल जी ने कहा भारत की समग्र समन्वित एकात्म विश्व-दृष्टि (Holistic, Integrated, Integral World-view) है। इसी में से इस विचार का नाम एकात्म मानववाद चल पड़ा। सम्पूर्ण विश्व को देखने का दृष्टिकोण बदलना यह पहला कार्य है, वैचारिक क्षेत्र में भी और नीतिगत क्षेत्र में भी। दीनदयाल जी ने यह अधिष्ठान दिया, गहरा विचार है, समझने वाला विचार है।

दूसरी बात दीनदयाल जी ने कहा है मनुष्य क्या है? मनुष्य को समझा है क्या? मनुष्य के लिए नीतियाँ बना रहे हो और उसी को नहीं समझ रहे हो? मनुष्य को आजकल के भिन्न-भिन्न विद्वान् कैसे समझाते हैं? सोशल साइंस वाले कहेंगे सोशल एनिमल है और पॉलिटिकल साइंस वाले कहेंगे पॉलिटिकल एनिमल है, एनिमल दोनों के लिए कॉमन है। मनुष्य को एनिमल मान कर दी गई व्यवस्थाएं समाज के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकतीं। मेकैनिकल इन्जीनियरिंग पढ़ने वाले कहते हैं मनुष्य मेकैनिकल मानव है और बायोलॉजी पढ़ने वाले कहते हैं कि मनुष्य कोशिकाओं की गठरी (Bundle of thousands and thousands of cells) है और इसकी विशेषता क्या है खाना, पीना और सम्भोग। इतना ही मनुष्य है क्या? अर्थशास्त्र ने मनुष्य को इकनॉमिक मैन कहा। मनुष्य केवल अर्थ मानव है क्या? अर्थ मानव मानेंगे तो उसका परिणाम क्या आएगा? हम ने कहा यह भाप का इंजन है। भाप का इंजन क्यों है, क्योंकि यह इंजन भाप से चलता है। हम ने कहा यह बिजली की मोटर है। बिजली की मोटर क्यों है, क्योंकि यह बिजली से चलती है। यदि हम ने यह मान लिया कि मनुष्य अर्थ मानव है तो इसका व्यवहार कैसे चलता है? पैसे से चलता है। पैसा मिलेगा तो काम करेगा, जिस काम में ज्यादे पैसा मिलेगा उसको करेगा, जिसमें नहीं मिलेगा उसको नहीं करेगा। देश की गोपनीयता को पैसा लेकर बेच देता है तो वह वर्त्तमान की आर्थिक परिभाषा के हिसाब से गलत नहीं करता। इससे समाज का कल्याण नहीं होने वाला।

दीनदयाल जी ने हमें क्या समझाया, मनुष्य को कैसा मानों? दीनदयाल जी ने कहा मनुष्य चार चीजों का समुच्चय है- शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा। इसलिए कोई भी योजना बनायेंगे, कोई भी नीति बनायेंगे तो आप की नीति, व्यवस्था और सिद्धांत मुख्य रूप से इन चारों की पूर्ति करने वाला होना चाहिए। शरीर की आवश्यकता आहार है। आहार प्रतीकात्मक शब्द है। आहार का मतलब मनुष्य के जीवन के अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति की गारंटी इस व्यवस्था में से आना चाहिए। जैसे शरीर की मुख्य आवश्यकता आहार है वैसे ही मन की आवश्यकता प्यार है। आज अनेक लोग जिनके पास खाने-पीने का अम्बार है उनको प्रेम नहीं मिलता, आत्मीयता नहीं मिलती, परिवार से नहीं मिलती, समाज से नहीं मिलती। इससे उनके अन्दर अवसाद उत्पन्न होता है, फ्रस्ट्रेशन आता है, डिप्रेशन आता है। इसका कारण है प्रेम आत्मीयता और

सहानुभूति की कमी। दीनदयाल जी ने कहा हमको मन का प्यार देना पड़ेगा। तीसरा बुद्धि का खुराक क्या है? बुद्धि को क्या मिलना चाहिए? बुद्धि को विचार मिलना चाहिए। उचित-अनुचित का निर्णय करने का विवेक यह समाज जीवन में आना चाहिए। क्या करणीय है, क्या अकरणीय है इसकी अकल आनी चाहिए। बुद्धि के बिना समाज का विकास कैसे होगा? बुद्धू लोगों के द्वारा तो समाज का विकास नहीं हो सकता। जो सही और गलत का निर्णय दे सके, उस बुद्धि का विचार करना होगा। चौथा आत्मा का विचार यानी परमपिता परमात्मा का साक्षात्कार। दीनदयाल जी का यह विचार था कि हमें सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी जो मनुष्य की चारों आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

दीनदयाल जी ने तीसरी बात हमको समझाई कि भारत विविधता वाला समाज है। विश्व में झगड़ा क्यों है, आतंकवाद क्यों है, भेदभाव क्यों है? स्थानीय स्तर से वैश्विक स्तर तक आज संघर्ष है। क्यों संघर्ष है? इसलिए संघर्ष है कि लोग विविधता को स्वीकार नहीं करते। मेरी ही बात सही है, मेरा ही रास्ता सही है, सबको उसी रास्ते पर चलाना चाहिए। जोर-जबरदस्ती एक ही रास्ते पर ले जाने का मेरा अधिकार है। ऐसे जो विचार हैं, ऐसे जो माननेवाले लोग हैं उनके कारण से संसार में आतंक बढ़ा, उनके कारण से समाज में संघर्ष है। दीनदयाल जी ने कहा कि भारत की संस्कृति ने हमें विविधता में एकता इसका बोध दिया है, इसकी समझ दी है। एक ही तत्व भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुआ है 'एकोऽहम् बहुस्यामः' ऐसा हमारे यहाँ कहा गया। परम तत्व परमात्मा एक ही है उसने भिन्न-भिन्न रूप में अपने को प्रकट कर लिया। आज विज्ञान भी उसको मानने लगा है। अब बॉस पार्टिकल आ गया। यह कहा जाने लगा है कि एक ही पार्टिकल से सारे विश्व का निर्माण हुआ है। यही बात जब भारत के लोग कहते थे, तो हमें पिछड़ा माना जाता था, ट्राईबल कहा जाता था लेकिन आज सारा संसार मानने लगा। हम गो माता कहें, हम तुलसी माता कहें, हम पहाड़ देवता कहें, हम नाग देवता कहें, सब में उसी परमात्मा का दर्शन करने का भारतीय संस्कृति का भाव है। किसी को नष्ट नहीं करना, समाप्त नहीं करना, सम्पूर्ण विविधता में सत्य और सौन्दर्य का दर्शन करना, विविधता का सम्मान करना, सब विचारों का सम्मान करना, सब मत-पंथ का सम्मान करना, यह भारतीय दृष्टि है, इसलिए दीनदयाल जी ने कहा विविधता में एकत्व का दर्शन करना, विविधता में एकता का सूत्र, यह भारतीय संस्कृति का अंतर्यामी सूत्र है। दीनदयाल जी ने कहा इसको जीवन में उतारना पड़ेगा, नीतियाँ ऐसी बनानी पड़ेंगी, व्यवस्थाएं भी ऐसी बनानी पड़ेंगी।

चौथी बात दीनदयाल जी ने बहुत महत्त्व की कही 'व्यष्टि और समष्टि के बीच क्या सम्बन्ध है?' इकॉनामिक्स या अन्य विषयों में जैसे माइक्रो-मेक्रो समझाते हैं कि छोटी से छोटी इकाई और बड़ी से बड़ी इकाई के बीच क्या सम्बन्ध है। वैसे ही व्यक्ति है, उसके बाद परिवार है, समाज है, राष्ट्र है, विश्व है, सृष्टि है और परमेष्टि है। इनके बीच आपस में कोई तालमेल है की नहीं, कोई सम्बन्ध है की नहीं? पश्चिम की जो सबसे बड़ी त्रासदी है कि वह एकांगी विचार है, वह अधूरा विचार है, भौतिकतावादी विचार है, वह जड़वादी

विचार है, वह भोगवादी विचार है, वह परस्पर विरोधी है। पश्चिम में व्यक्ति और भिन्न-भिन्न बड़ी इकाइयों के बीच जो सम्बन्ध है उसके लिए दीनदयाल जी ने एक शब्द दिया संकेंद्रित (concentric) संरचना अर्थात व्यक्ति अपने ही सर्कल में घूमते रहता है, उसका परिवार और समाज से कोई लेना-देना नहीं। परिवार नाम की कोई कल्पना नहीं, व्यक्ति अपने में घूमता है, परिवार अपने में घूमता है। परिवार का समाज से कोई नाता-रिश्ता नहीं, परिवार और समाज का विश्व से कोई नाता-रिश्ता नहीं, सब अपने में ही घूमते रहते हैं। दीनदयाल जी कहते थे इस संकेंद्रित रचना को बदलना है। हमारी रचना कैसी होगी? दीनदयाल जी ने कहा व्यष्टि से लेकर समष्टि और परमेष्टि तक अखंड-मंडलाकार रचना, जैसे सांप कुंडली मारकर बैठता है। घेरे अलग-अलग हैं पर एक दूसरे से जुड़े हैं। यदि आप ने पूँछ वाले घेरे पर प्रहार किया तो सम्पूर्ण सांप उठकर खड़ा हो जाता है, ऐसी ही हमारी रचना चाहिए। समाज जीवन के किसी क्षेत्र में कोई भी दुर्घटना हो गई तो सम्पूर्ण समाज के मन में संवेदना आनी चाहिए। यदि संकेंद्रित संरचना पर चलेंगे तो समाज जीवन में असंवेदनशीलता आयेगी। दीनदयाल जी ने कहा कि मुझे ऐसी समाज रचना चाहिए, ऐसी व्यवस्था चाहिए जिसमें परस्पर संवेदनशीलता हो। उन्होंने व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्ध में अखंड-मंडलाकार स्वरूप को बताया। यह उनका बहुत महत्पूर्ण योगदान है।

उन्होंने व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्ध को बहुत विस्तार से बताया। जिस प्रकार व्यष्टि यानी व्यक्ति के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के विषय में बताया वैसे ही उन्होंने समष्टि के लिए भी चार शब्दों का प्रयोग किया देश, जन, चिति और संस्कृति। इन चार तत्त्वों से मिलकर समाज बनता है, समष्टि बनती है। व्यष्टि और समष्टि को जोड़ने वाले चार तत्व हैं। पहला तत्त्व है 'शिक्षा'। दीनदयाल जी ने कहा कि शिक्षा समाज से व्यक्ति की ओर चलनी चाहिए। देश में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक बालक और बालिका के विकास का दायित्व समाज का होना चाहिए। आज तो जिसके माँ-बाप के जेब में पैसा है, उसका बच्चा पढ़ने जायेगा और जिसके माँ-बाप के पास पैसा नहीं है, उसका विकास नहीं हो सकेगा। इसलिए शिक्षा समष्टि से व्यष्टि की ओर चले। शिक्षित हो जाने के बाद व्यक्ति को कुछ काम करना चाहिए, अर्थोपार्जन करना चाहिए तो उसका जो कर्म है वह व्यष्टि से समष्टि की ओर चलेगा। कर्म के बाद में उसको उसका प्रतिफल मिलना चाहिए। उसके लिए दीनदयाल जी ने एक शब्द प्रयोग किया योगक्षेम। योगक्षेम यह भारतीय शब्द है, इसका अर्थ वेतन से बड़ा है। आपको काम के बदले में जो चीज प्राप्त होती है उससे बड़ा है योगक्षेम। योगक्षेम की चिंता कौन करेगा? दीनदयाल जी कहते हैं योगक्षेम की चिंता समाज करेगा। आप को समाज से जो कुछ मिला, उसका अकेले उपभोग करना है क्या? दीनदयाल जी ने कहा कि कर्म के बदले जो समाज से मिला है उसका कुछ हिस्सा यज्ञ की भावना से समाज को समर्पित कर दें। यह व्यष्टि और समष्टि का विवेचन दीनदयाल जी ने हमें समझाने का प्रयत्न किया था।

दीनदयाल जी का आर्थिक चिंतन एकांगी नहीं है एकात्म है, समग्र है। आज के समय में सम्पूर्ण

तंत्र को, सम्पूर्ण व्यवस्था को बदलना बहुत आवश्यक है।

दीनदयाल जी ने अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में तीन शब्द प्रयोग किये स्वदेशी, स्वावलंबी, विकेन्द्रित अर्थ-तंत्र चाहिए। केन्द्रित अर्थ व्यवस्था से बेरोजगारी दूर होगी क्या? लोगों को रोजगार मिल सकेगा क्या? केवल चंद कारखानों से देश की बेरोजगारी दूर नहीं हो सकती। केवल बड़े-बड़े कारखानों के द्वारा अमीर और गरीब का भेदभाव दूर नहीं हो सकता, इसलिए दीनदयाल जी ने कहा विकेन्द्रित अर्थ-तंत्र हमें चाहिए। दुनिया में आर्थिक मंदी आयी, हमारा देश उसे पचा ले गया। क्या यह बड़े उद्योगों के कारण संभव हो सका? यह हमारे छोटे उद्योगों, कुटीर उद्योगों के कारण संभव हो सका। दीनदयाल जी ने यह आर्थिक चिंतन देते समय एक दूसरी बड़े महत्व की बात कही है, वह है अर्थायाम। अर्थायाम क्या है? अर्थायाम बहुत सरल है, जैसे आप प्राणायाम को समझाते हैं श्वास लेना और श्वास छोड़ना। श्वास लेना और श्वास छोड़ना ये दोनों ही मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। अब कोई कहे कि मेरी श्वास है मैंने ले लिया, मेरी मर्जी मैं छोडूं या न छोडूं, कोई मेरा क्या बिगाड़ लेगा? कोई नहीं बिगाड़ेगा, जिसे बिगड़ना है; वह स्वयं बिगड़ जायेगा। श्वास का लेना और छोड़ना दोनों आवश्यक है। दीनदयाल जी ने हमें समझाया की वही अर्थ-तंत्र सबसे अच्छा होता है जिसमें न अर्थ का अभाव हो और न ही अर्थ का प्रभाव हो। आज दुनिया में दो प्रकार का संकट है। एक अर्थाभाव का संकट है। अपने देश में तीस-चालीस प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं। इससे दुनिया का कल्याण हो सकता है क्या? नहीं हो सकता। हमारे यहाँ इसे अच्छा माना भी नहीं गया है। हमारे यहाँ कहा गया है 'दरिद्रं पातकं लोके'। दरिद्रता को पातक माना गया है। गरीब हो करके या देश और समाज को गरीब रख करके व्यवस्थाएं चलाना यह गौरव का विषय नहीं है। दीनदयाल जी ने कहा समाज जीवन में अर्थ का अभाव नहीं चाहिए पर अर्थ का प्रभाव भी नहीं चाहिए। अर्थ के प्रभाव से विलासिता आयेगी, उपभोक्तावाद बढ़ेगा। आज दुनिया की बीमारी उपभोक्तावाद है। यह जो वैश्विक आर्थिक मंदी अमेरिका में आयी, इसका एक बड़ा कारण उपभोक्तावाद है। खूब उपभोग करो, खूब उपभोग करो, ऐसा ही हमारे देश में एक चार्वाक नाम के मनीषी हुए थे उन्होंने भी यही कहा था। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्, भस्मीभूतस्य देहस्य पुनर्जन्मं कुतः' खूब घी खाओ, तुम्हारे पास नहीं है तो ऋण लेकर खाओ। हमारे लोगों ने इस दर्शन को रिजेक्ट कर दिया। आज अमेरिका के जीवनचर्या में यही चल रहा है, खाओ, खूब खाओ, ऋण लेकर खाओ। वहां की आर्थिक संस्थाओं ने लोगों को खूब ऋण दिया। जिसके पास एक मकान था उसे दो मकान के लिए ऋण लेने के लिए प्रेरित किया, दो वाले को तीन के लिए प्रेरित किया। ऐसे ही अन्य चीजो के लिए प्रेरित किया गया। ऐसा करके वहां के बैंकिंग और आर्थिक संस्थाओं ने खूब कर्ज दिया। लोगों में भुगतान करने की क्षमता तो थी नहीं, जब वापस करने का विषय आया तो उन्होंने कहा मेरे पास तो कुछ है नहीं, तुम्हें जो दिखाई देता हो ले लो। इसके कारण वहां के चालीस बैंक एक साथ धराशायी हो गए। उपभोक्तावाद एक बहुत बड़ी बला है, इसलिए दीनदयाल जी ने कहा अर्थ का प्रभाव भी नहीं होना चाहिए।

अर्थ का प्रभाव और अर्थ का अभाव दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने वाला अर्थतंत्र बनाना चाहिए।

एक और ढंग से दीनदयाल जी ने अर्थायाम को समझाया। तीन काम करने हैं, उत्पादन की वृद्धि, देश का उत्पादन बढ़ना चाहिए पर भोग में संयम रहना चाहिए और वितरण की समानता होनी चाहिए। दीनदयाल जी ने कहा जिस अर्थ-तंत्र में इन तीनों का मेल होगा, समन्वय होगा उसे अर्थायाम कहते हैं। बेतहाशा उत्पादन करते जा रहे हैं तो दीनदयाल जी ने कहा उत्पादन को बढ़ाना, परन्तु प्रकृति की मर्यादा का ख्याल रख करके उत्पादन करना। आजकल प्रकृति से छेड़छाड़ करके उत्पादन बढ़ रहा है। आज समस्या खड़ी हो गई है पर्यावरण की, आज समस्या खड़ी हो गई है संसाधनों की। क्यों खड़ी हो गई है? क्योंकि हमने उत्पादन की वृद्धि में प्रकृति की मर्यादा का ध्यान नहीं रखा। उत्पादन बढ़ाने में प्रकृति की मर्यादा और भोग में संयम का ध्यान रखना चाहिए। अधिक से अधिक भोग करते जाओगे तो किसी न किसी का छीनोगे और वितरण की असमानता होगी। वितरण समान होना चाहिए। इन तीनों का ध्यान रख कर जो अर्थतंत्र बनता है उसे दीनदयाल जी ने अर्थायाम कहा है। इसी क्रम में दीनदयाल जी ने उद्योग और खेती के बारे में कहा। उन्होंने ने कहा अदैवमातृका कृषि होनी चाहिए। उनके द्वारा प्रयुक्त यह भारतीय मनीषा से उत्पन्न प्रकृति प्रदत्त शब्दावली है। अदैवमातृका का अर्थ है कृषि की व्यवस्था करते समय सरकार को ऐसी व्यवस्थाएं करनी चाहिए कि कृषि केवल मानसून पर निर्भर न रहे। इसी प्रकार उन्होंने उद्योग के बारे में में कहा अपरमात्रिक उद्योग नीति। यह सब अध्ययन के विषय हैं, शोध के विषय हैं। एक-एक पर गहरा शोध हो सकता है उसके लिए कार्य-योजना हो सकती है। इसके लिए नीतिगत बदलाव हो सकता है।

दीनदयाल जी की एक महत्त्वपूर्ण परिकल्पना है 'अन्त्योदय'। दीनदयाल जी ने कहा कोई आर्थिक नीति, कोई आर्थिक योजना सही है या गलत है इसकी कसौटी क्या है? उन्होंने कहा समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़े हुए व्यक्ति के जीवन में अगर सरकार की किसी नीति के द्वारा उत्थान होता है तो वह नीति ठीक है, लेकिन किसी नीति के द्वारा देश के चंद घरानों की पूँजी बढ़ती है, तो ऐसी नीति मान्य नहीं है। इस प्रकार दीनदयाल जी ने अन्त्योदय की परिकल्पना दिया।

दीनदयाल जी के आर्थिक परिकल्पना की तीन महत्वपूर्ण बाते हैं– प्रथम है हर पेट को रोटी। देश और समाज में कोई भूखा रहे, ऐसा कैसे हो सकता है? दूसरा उन्होंने कहा- हर खेत को पानी। जब हर खेत को पानी प्राप्त होगा तभी कृषि उत्पादन बढ़ेगा। सर्वाधिक महत्व की तीसरी बात उन्होंने कही- हर हाथ को काम। आज दुनिया का कोई भी देश यह नहीं कह सकता कि मैं अपने सभी लोगों को रोजगार दे पा रहा हूँ। सब जगह रोजगार का संकट है। अमेरिका हो या यूरोप हर जगह रोजगार का संकट है। हर हाथ को काम देने के लिए हमें नीति बदलनी होगी। आज आर्थिक वृद्धि पर बहुत जोर है। आर्थिक वृद्धि बढ़नी चाहिए, लेकिन आर्थिक वृद्धि होने पर भी रोजगार नहीं बढ़ा तो समाधान नहीं होगा, इसलिए दीनदयाल जी ने कहा इस विचार को बदलना पड़ेगा। दीनदयाल जी ने कहा हमें रोजगार आधारित अर्थ-व्यवस्था बनानी

पड़ेगी। आप कोई भी आर्थिक नीति बनाते हैं, उसमें यह विचार करना पड़ेगा कि इससे देश कितने लोगों को रोजगार मिलेगा। रोजगार अधिक लोगों को मिलेगा तो ग्रोथ रेट अपने आप बढ़ने वाली है, लेकिन केवल ग्रोथ रेट के आधार पर देश का चित्र बदलने का सोचो तो यह चित्र बदलेगा नहीं, इसलिए हर हाथ को काम दे सकें, ऐसा विचार हमें करना पड़ेगा।

दीनदयाल जी के विचारों पर कुछ लोग पुरातनपंथी या दकियानूसी होने का आरोप लगाते हैं। इसके लिए दीनदयाल जी कहते हैं, हम भारत को न तो किसी पुरातन काल की प्रतिछाया बनाना चाहते हैं और न ही रूस और अमेरिका का भौड़ा प्रतिरूप। विश्व के दर्शन और आज तक की अपनी सम्पूर्ण परंपरा के आधार पर हम एक ऐसे भारत का निर्माण करेंगे जो हमारे पूर्वजों के भारत से अधिक गौरवशाली होगा और जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए सम्पूर्ण मानव ही नहीं अपितु प्रकृति के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर नर से नारायण बनने में समर्थ हो सकेगा।

दीनदयाल जी का यह स्वप्न पूरा कैसे होगा? इसके लिए दीनदयाल जी ने कहा भारत की चिति को समझें। अब जब वे चिति कहते हैं तो चिति क्या है? चिति, चित्त का नाम है, मनोवृत्ति (mind set) का नाम है, सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के पुंज का नाम चिति है। चिति यानी भारत का चित्त क्या है, भारत का मानस क्या है, कौन सा काम ठीक है कौन सा गलत है। युद्ध में लोगों को मारने का काम कौरव भी करते थे और पांडव भी करते थे पर पांडव हमें मान्य हैं और कौरव हमें मान्य नहीं हैं। रामायण में राम ने छिपकर बालि का वध किया परन्तु राम हमारे लिए श्रेष्ठ हैं रावण नहीं है, इसकी कसौटी क्या है? दीनदयाल जी ने कहा इसकी कसौटी चिति है और इस चिति के आधार पर समाज का जागरण करना पड़ेगा अर्थात समाज को चिति के आधार पर संगठित करना पड़ेगा। दीनदयाल जी ने कहा कि समाज जीवन में परिवर्तन लाने के लिए विराट का जागरण आवश्यक है। दीनदयाल जी के विचारों को अत्यंत संक्षेप में कहा जाये तो अतीत का गौरव, वर्त्तमान का यथार्थवादी आकलन और भविष्य की महत्वाकांक्षा लेकर चिति के प्रकाश में विराट के जागरण के आधार पर हम नव-रचना करने का संकल्प करें यही दीनदयाल जी का सन्देश है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन

ओम प्रकाश मिश्र[1]

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन पर विचार करने के पूर्व भूमिका में कठोपनिषद में नचिकेता का यम से कथन हमारी मनीषा को स्पष्ट करता है-

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।[2]

अर्थात् धन से मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। आग में घी डालने से जैसे आग जोरों से भड़कती है, उसी प्रकार धन और भोगों की प्राप्ति से भोग-कामना का और भी विस्तार होता है। वहाँ तृप्ति कैसी? वहाँ तो दिन-रात अपूर्णता और अभाव की अग्नि में ही जलना पड़ता है। ऐसे दुःखमय धन और भोगों की माँग कोई भी बुद्धिमान पुरुष कैसे कर सकता है।

भारत राष्ट्र में 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की आधार भूमि पर हमारी आर्थिक चिंतन-सरणी बनी है। पाश्चात्य जीवन-दृष्टि में मात्र भौतिकवाद पर जोर है। हमारे यहाँ राष्ट्रहित, मानव-कल्याण एवं समस्त जगत के कल्याण का लक्ष्य निहित है।

पाश्चात्य जगत ऐसा कहता है कि अर्थशास्त्र उन्होंने आरम्भ किया। वस्तुतः हमारे मनीषियों ने 'अर्थ' को प्राधान्य न देते हुए भी उसका सम्पूर्ण जीवन में समग्रता से विचार किया है। हमारे वेदव्यास, महर्षि वाल्मीकि, विदुर, शुक्र, मनु, कौटिल्य आदि महात्माओं एवं मनीषियों के अनेक ऐसे उदाहरण एवं तत्व मिलते हैं जिनसे भारतीय अर्थ-चिंतन का ज्ञान होता है।

यह नितांत भ्रममूलक अवधारणा है कि हमारे मनीषियों की दृष्टि चूँकि धर्म और अध्यात्म प्रधान थी, अस्तु हमारा चिंतन भौतिक समस्याओं व आर्थिक जीवन की अनदेखी करता है। वस्तुतः भारतीय चिंतन धारा में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के मध्य तादात्म्य है। हमारे यहाँ अनियंत्रित प्रतियोगिता व लाभ की वृत्ति को उचित नहीं माना गया है।

वैदिक काल में आर्थिक जीवन कृषि एवं पशुपालन पर आधारित था। हम कृषि को महत्व देते थे।

1 पूर्व रेल अधिकारी एवं पूर्व प्रवक्ता अर्थशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

2 कठोपनिषद-1/1/27

हमने पृथ्वी को माता की दृष्टि से देखा। 'अथर्ववेद' के पृथ्वी सूक्त में कहा गया है-

''तासु नो धेह्यभिः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः''[3]

पृथ्वी मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि जुए के पासों का खेल मत खेलो, कृषि कार्य करो और सम्मान के साथ धन पाओ और अपने को धन्य मानते हुए प्रसन्न रहो, क्योंकि इससे गौएँ सुरक्षित रहेंगी, पत्नी प्रसन्न और अनुकूल रहेगी। यह परमात्मा का आदेश है कि उपदेश करो-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥[4]

वैदिक युग में गायों का आर्थिक जीवन में इतना महत्व था कि विनिमय के माध्यम के रूप में उन्हें मूल्यमापक के रूप में प्रयोग किया जाता था-

''क इयं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः[5]

ऋषि पूछ रहें हैं वह कौन है जो इन्द्र की प्रतिमा को दस गायों के बदले क्रय कर रहा है।

वैदिक युग में वस्तुओं का क्रय-विक्रय आरंभ हो गया था परन्तु प्रचलन में ज्यादातर वस्तु विनिमय-प्रणाली (Barter System) थी।

भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' ने विकेन्द्रीकृत उद्योग, वाणिज्य, व्यापार एवं कृषि सभी क्षेत्रों में परिवार को एक मूल आर्थिक इकाई के रूप में मान्यता दी थी। ऋग्वेद में विकेन्द्रीकृत उद्यमों पर जोर दिया गया है। ऋग्वेद में पूँजी को परिवार के उत्पादक संसाधनों का रूप माना गया है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद व अथर्ववेद में बड़े-बड़े जहाजों द्वारा विश्वभर में व्यापार करने और नीतिपूर्वक संपत्ति-अर्जन करने एवं भौगोलिक दृष्टि से उद्यमों को अनेक स्थानों पर स्थापना करने का उल्लेख मिलता है।[6]

वैदिक काल के बाद रामायण व महाभारत के समय में भी भारतीय आर्थिक चिंतन सरणि क्रमबद्ध रही। महाभारत के सभापर्व में (अध्याय 51 तथा 52) उन भेंट-उपहारों का बड़े विस्तार से उल्लेख किया गया है कि विभिन्न राज्यों ने विभिन्न प्रकार के वस्त्रों (रेशमी, ऊनी, सूती) को महाराज युधिष्ठर को भेंट किया था, यानी वस्त्र उद्योग उस काल में उन्नत अवस्था में था।

भारतीय जीवन प्रणाली में श्रम एवं उद्योग का महत्व आदिकाल से है। ऋग्वेद में कहा गया है कि जो श्रम नहीं करता, उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते-

3 अथर्ववेद-12/1/12

4 ऋग्वेद-10/34/13

5 ऋग्वेद-4/24/10

6 रिप्लेसिंग कीन्स विद कौटिल्य- प्रो. भगवती प्रकाशः ORGANISER (August 20,2017) Page-42-44

''न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः''[7]

यजुर्वेद में कहा गया है कि हम उत्कृष्ट और शुभ जीवन के लिए निरंतर उद्योगशील हों-''उदायुषा स्वायुषोदस्थामम्''[8]

श्रम के महत्व को उल्लेख करते हुए कहा गया है कि श्रमशील मनुष्य जीवन के माधुर्य को पाता है। सूर्य से श्रम की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो सदैव चलता रहता है और कभी भी आलस्य नहीं करता, इसलिए निरन्तर श्रम करने के लिए कहा गया है-

चरन्वै मधुविन्दति, चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं, यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेती।[9]

उपरोक्त से स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि हमारे पुरखे श्रम, उद्यम, उद्यमिता के प्रति सजग थे। लक्ष्मी शब्द का अर्थ है- जो शक्ति स्वयं को लक्ष्य बनाती है-लक्षयति उद्योगिनम् इति लक्ष्मी। लक्ष्मी किसी आलसी का वरण नहीं करती, आलसी पर कृपा नहीं करती। भारतीय चिंतन में लक्ष्मी का पूजन, धन-धान्य की देवी के रूप में होता है। लक्ष्मीमाता सार्थक व सोद्देश्य प्रयत्न की अधिष्ठात्री हैं। अस्तु भारतीय चिंतन पर 'अर्थ' की अनदेखी करने का विचार पूर्णतः असत्य है।

भारतीय जीवन-पद्धति में असीमित उपभोग को निषिद्ध किया गया है। हमारे यहाँ संतुलित एवं आवश्यक उपभोग की व्यवस्था है। त्यागपूर्वक उपभोग को श्रेष्ठ माना गया है- ईशावास्योपनिषद के प्रथम श्लोक में कहा गया है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥[10]

अर्थात् अखिल ब्रहमाण्ड में जो कुछ भी है (चेतन स्वरूप जगत), यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए, त्याग पूर्वक (इसे) भोगते रहो, (इसमें) आसक्त मत रहो, किसी के धन का लोभ मत करो, (क्योंकि) धन-भोग्य पदार्थ किसका है यानी किसी का भी नहीं है।

वेदों के काल में अर्थ के लालच को निंदनीय समझा जाता था, परन्तु महाभारत का काल आते-आते 'अर्थ' की महत्ता स्थापित हुई क्योंकि भीष्म ने स्पष्ट कहा है कि जगत की-स्थिति 'वार्ता' पर आधारित है, यद्यपि उनके इस कथन में धन की लोलुपता का भाव नहीं था। रामायण काल तक में मुद्रा का प्रचलन हो गया था। कृषि, उद्योग एवं व्यापार स्थापित हो चुका था। विनिमय का सफल संचालन था। वस्तुतः 'वार्ता' शब्द का अभिप्राय वित्त, राजस्व या राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के रूप में था।

7 ऋग्वेद-4/33/11
8 यजुर्वेद-4/28
9 ऐतरेय ब्राह्मण-7/15
10 ईशावास्योपनिषद्-1

रामायण एवं महाभारत के समय में आर्थिक चिंतन विकसित रूप में आ गया था। धर्म, राजसत्ता, अर्थनीति, राजनीति यह सब एक दूसरे से निकट जुड़े हुए थे। भारतीय समाज खण्ड-खण्ड करके विचार नहीं करता था, वह जीवन का समग्रता से विचार करता था। यह भारतीय अर्थचिंतन का मूलतत्व है।

असुरों के गुरु शुक्राचार्य महान विद्वान थे। भारतीय अर्थचिंतन में शुक्रनीति का योगदान उल्लेखनीय है, इसके विषयों में पूरा शासनतंत्र, कर व्यवस्था, कोषाध्यक्ष, वेतन, छुट्टी, पेंशन, व्यापार, क्रय/विक्रय, ऋण आदि आर्थिक विषयों को समग्र चिंतन के रूप को प्रस्तुत किया गया है। पाश्चात्य विद्वान ऐसा समझते हैं कि कर्मचारियों के कल्याण हेतु पेंशन की व्यवस्था उन्हीं की देन है, भारतीय अर्थचिंतन में शुक्रनीति में पेंशन की मात्रा तक का उल्लेख है-

''चत्वारिंशत्समा नीताः सेवया येन वै नृपः।
ततः सेवां बिना तस्मै भृत्यर्थं कल्पयेत्सदा।।
यावज्जीवं तु तत्पुत्रेऽक्षमें बाले तदर्धकम्।
भार्यायां वा सुशीलायां कन्यायां या स्वश्रेयसे।।[11]

भाव यह है कि यदि किसी कर्मचारी को सेवा करते-करते चालीस वर्ष हो गए हों तो राजा को चाहिए कि वह उसे बिना कोई सेवा लिए आजीवन आधा वेतन बतौर पेंशन देता रहें। ऐसे कर्मचारियों के पुत्रों को कार्य करने योग्य होने तक राजा उनके पिता के वेतन का एक-चौथाई भाग दें। पत्नी एवं अविवाहित पुत्री को भी पेंशन का आधा भाग दिया जाना चाहिए।

शुक्राचार्य ने मूल्य निर्धारण में मांग और आपूर्ति के सिद्धांत का भी वर्णन किया है-

सुलभासुलभा त्वाश्चगुणात्वगुणसंश्रयैः।
यथाकामात्पदार्थानामर्धं हीनाधिकं भवेत्।।[12]

पदार्थ की बाजार में सुलभता-दुर्लभता के मूल्य पर प्रभाव होता है। सुलभ पदार्थ की तुलना में उसके दुर्लभ हो जाने पर मूल्य अधिक हो जाता है। आधुनिक चिंतन के अनुसार भी मांग और पूर्ति द्वारा मूल्य का निर्धारण होता है।

'महाभारत' में समाहित 'श्रीमद्भगवद्गीता' एवं 'विदुरनीति' दो महत्वपूर्ण अर्थनीति के आधार हैं। महात्मा विदुर की नीतिपरक शिक्षाएं भारतीय विचार सरणि की महत्वपूर्ण इकाई हैं। कराधान पर उनके विचार श्रेष्ठ हैं-

''यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।

11 शुक्रनीतिः अध्याय 2, श्लोक 154-155
12 शुक्रनीतिः अध्याय 2, श्लोक 146

तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥''[13]

अर्थात जिस प्रकार भौंरा फूलों को नुकसान पहुँचाए बिना उनका रस चूसता है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से कर के रूप में धन इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि उसे कष्ट न हो।

''पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामें न यथांगारकारकः॥[14]

जैसे बागीचे का माली, पौधों से पुष्प तोड़ लेता है, पौधों को जड़ों से नहीं काटता है, इसी प्रकार राजा प्रजा से फूलों के समान कर ग्रहण करें। कोयला बनाने वाले की तरह उसे जड़ से न काटें।

महात्मा विदुर धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन के पक्षधर हैं-

''समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते॥[15]

जो व्यक्ति धर्म और अर्थ के बारे में भली-भाँति विचार करके, न्यायोचित रूप से अपनी समृद्धि के साधन जुटाता है, उसकी समृद्धि बराबर बढ़ती रहती है और वह सुख साधनों का भरपूर उपयोग करता है।

''श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते।
द्वाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति॥''[16]

अच्छे कर्मो से धन लक्ष्मी की उत्पत्ति होती है, प्रगल्भता से वह वृद्धि करती है, कौशल से जड़ जमा लेती है और धीरता से स्थायी होती है।

''अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत्।
नहि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम्॥''[17]

जो व्यक्ति धन, ऐश्वर्य व संपत्ति का इच्छुक है, उसे अपना पूरा जीवन धर्माचरण में बिताना चाहिए क्योंकि धर्म, अर्थ के साथ वैसे ही जुड़ा है जैसे स्वर्ग के साथ अमृत।

प्राचीन भारतीय चिंतन सरणि में स्मृतियों को अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। सबसे प्राचीन स्मृति महर्षि मनु की 'मनुस्मृति' है। मनुस्मृति में जीवन की कोई भी बात छूट नहीं पाई है। श्रम विभाजन (Division of Labour) के सिद्धांत का प्रतिपादन मनुस्मृति में है। शासन-व्यवस्था, परिवार, समाज के लिए पूरी 'मनुस्मृति' एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें सभी नागरिकों हेतु क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इसका वर्णन है। वर्ण व्यवस्था ही, श्रम विभाजन की आधार थी, परन्तु वर्तमान में इसमें समयानुकूल परिवर्तन

13 विदुरनीति-34/17
14 विदुरनीति-34/18
15 विदुरनीति-2/67
16 विदुरनीति-3/51
17 विदुरनीति-5/48

भी आवश्यक प्रतीत होता है। ज्यादातर लोग 'मनुस्मृति' का अवलोकन किए बिना ही उस पर अपनी राय रखने लगते हैं।

वस्तुतः महाराज मनु ही श्रम विभाजन सिद्धान्त के जनक हैं। भारतीय परिवेश में मनु द्वारा प्रतिपादित श्रम विभाजन का सिद्धान्त अनेक कारणों से रुढ़िग्रस्त हो गया तथा जाति के रूप में बदल गया। आर्थिक क्षेत्र में भारत ही नहीं समस्त जगत में श्रम विभाजन आज भी प्रचलित है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्से (NITZCHE) ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'मनुस्मृति' बाइबिल से भी महान ग्रन्थ है।[18]

मनुस्मृति में पर्यावरण तथा पर्यावरण-संरक्षण, राजा एवं शासन-व्यवस्था, मूल्य तथा वेतन-नीति, ब्याज, नौपरिवहन की दरें, व्यापारियों पर नियंत्रण, कराधान एवं वित्तीय नीति, विभिन्न वस्तुओं पर कर की दरें, महिलाओं के संपत्ति संबंधी अधिकार, एक श्रेष्ठ राजा के गुणों आदि विषयों पर गहराई से विचार किया गया है तथा निर्देश भी दिए गए हैं।

मनुस्मृति के दसवें अध्याय में दस जीवनोपयोगी व्यापारों एवं सात धर्ममार्ग से आने वाले धन का उल्लेख है-

सप्त वित्तागमा धर्म्यादायो लाभ क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च॥
विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवन हेतवः॥[19]

यानी दाय (पुरखों की संपत्ति), लाभ (भूमि में गड़े हुए धन की प्राप्ति), क्रय (खरीदना), जय (जीतकर लेना), प्रयोग (ब्याज पर धन देने से), कर्मयोग (कृषि और वाणिज्य) ये सात धर्म मार्ग से आने वाले धन हैं और विद्या, शिल्प, वेतन लेकर काम करना, सेवा, गोरक्षा, रोजगार, खेती, संतोष, भिक्षा और ब्याज का व्यापार ये दस जीवनोपयोगी व्यापार है।

कराधान (Taxation) पर मनु ने पूरा मार्गदर्शन मनुस्मृति के सातवें अध्याय में किया है। विभिन्न आर्थिक क्रियाओं पर कर की दर का भी उल्लेख किया है।

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं चार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्रश्वज्ञाब्दिकः करः॥
पंचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भाग षष्ठो द्वादश एव वा॥[20]

18 आर्थिक विचारों का इतिहास : डॉ. बी.बी. सिन्हा एवं जी.सी. सिंघई, पृ. 466

19 मनुस्मृति-10/115-116

20 मनुस्मृति-7/129-130

अर्थात् जिस प्रकार (षटपद) जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़ा-थोड़ा ही अपना आहार ग्रहण करते हैं वैसे ही राजा को भी वार्षिक कर लेना चाहिए। व्यापारियों से पशु और स्वर्ण के लाभ का पचासवाँ भाग और कृषकों से अन्न का छठाँ, आठवाँ या बारहवाँ भाग राजा को लेना चाहिए।

मनुस्मृति में उल्लेख है कि एक व्यक्ति कीमत का निर्धारण नहीं करेगा इस कार्य के लिए एक बोर्ड होगा। उसमें भेदभाव, पक्षपात व भाई-भतीजावाद का स्थान नहीं होगा। बोर्ड में नियुक्ति पूर्णतः योग्यता के आधार पर होगी। सर्वप्रथम मनुस्मृति में राज्य द्वारा निर्धारित कीमतों का विवरण मिलता है।

भारतीय अर्थचिंतन के क्षेत्र में आचार्य चाणक्य, जिन्हें कौटिल्य के नाम से भी जाना जाता है, का योगदान अप्रतिम है। उन्हें भारतीय अर्थचिंतन को समग्र रूप से पहली बार, स्थापित करने का श्रेय है। मनुष्य, राज्य, समाज, राष्ट्र एवं पूरी सृष्टि के लिए उनका चिंतन, भारतीय परम्पराओं के अनुरूप एकात्मकता का भाव लिए हुए है। उनकी अमर कृति 'अर्थशास्त्र' अर्थचिंतन के जगत में ध्रुवतारे की भाँति है। अर्थशास्त्र की मूल धारणा का उपयोग, उत्पादन एवं न्यायपूर्ण वितरण (जिसे कल्याण भी कहा जा सकता है), के क्षेत्र में, कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक ऐसा विश्वकोष (Encyclopedia) है जिसका अध्ययन करके सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का आयोजन किया जा सकता है।

कौटिल्य की दृष्टि में अर्थशास्त्र को इस प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है-

मनुष्याणां वृत्तिरर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।
तस्य पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थ शास्त्रमिति।[21]

अर्थात जो मनुष्य को वृत्ति अथवा आजीविका प्रदान करता है, उसे अर्थ कहते हैं। मनुष्य से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं। मनुष्य की आजीविका के प्राकृतिक संसाधन जो भूमि के अंदर और बाहर हैं, वह अर्थ है। उसकी प्राप्ति तथा पालन एवं व्यवहार के जो उपाय किए जाते हैं उनकी विवेचना करने वाले ज्ञान के क्षेत्र को अर्थशास्त्र कहते हैं। यहाँ पर प्राकृतिक संसाधनों एवं मानवीय संसाधनों के तादात्म्य पूर्वक प्रयोग से संबंधित विषय अर्थशास्त्र का विषय वस्तु है। अतः कौटिल्य के मतानुसार प्रकृति एवं मनुष्य के मध्य रक्षण, पोषण का सिद्धान्त अर्थशास्त्र की अवधारणा में समाहित है।

कौटिल्य हमारे भारत राष्ट्र एवं पूरी मानवता के लिए अर्थशास्त्र की जो परिभाषा दिए हैं, वह पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों की परिभाषाओं से श्रेष्ठ है। (1) एडम स्मिथ- अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। (2) मार्शल- अर्थशास्त्र मनुष्य जीवन की साधारण व्यापार संबंधी क्रियाओं का अध्ययन करता है, जो सामाजिक एवं मानवीय व्यवहारों की जाँच करता है जिनका कल्याण के भौतिक साधन प्राप्त करने से संबंध है। (3) राबिन्स- अर्थशास्त्र अनंत आवश्यकताओं एंव सीमित साधनों के बीच मानवीय व्यवहार का अध्ययन है यानी अर्थशास्त्र चयन (Choice) का विज्ञान है। अर्थशास्त्र की जितनी उत्तम परिभाषा आचार्य कौटिल्य ने दी है

21 कौटिल्य अर्थशास्त्र-15/1/1

वह समस्त जगत में वरेण्य है।

कौटिल्य ने राज्य आधारित अर्थव्यवस्था हेतु नीति-निर्माण किया है। उनकी अर्थनीति के प्रमुख तीन सिद्धांत हैं-

1- इसके अन्तर्गत वे उद्योग आएंगे जिनके ऊपर राज्य का पूर्णस्वामित्व रहेगा, जिनका संचालन राज्य द्वारा ही किया जाएगा। इन उद्योगों की पूँजी, श्रम तथा प्रबंधन पूर्णतः राज्य पर होगा। ऐसी औद्योगिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य एक ऐसे राष्ट्र की स्थापना एवं उन्नति होगी, जो अपने आप में शक्तिशाली, साधन संपन्न एवं आत्मनिर्भर होगा। जिसे दैनंदिन आर्थिक आवश्यकताओं हेतु अन्य देशों का मुख न देखना पड़े। इनमें आधारभूत उद्योग जैसे- लोहा, लवण, सोना-चाँदी, टिन, ताँबा आदि आएंगे।

2- दूसरे प्रकार के उद्योग, राष्ट्र की आम जनता के द्वारा स्थापित एवं संचालित होंगे। इनकी पूँजी श्रम एवं प्रबंध की जिम्मेदारी राष्ट्र के नागरिकों की होगी। इन उद्योगों में कृषि, पशुपालन, सूत तथा विभिन्न कलाओं के क्षेत्र होंगे। (ध्यान रहें उस काल में उद्योग या उद्यम शब्द सभी प्रकार के व्यवसायों के लिए प्रयुक्त होता था।)

3- तीसरे सिद्धान्त में ऐसी व्यवस्था राष्ट्र में रखने के लिए थी जिसमें उत्पादन, उपभोग एवं वितरण के लिए शासन को अधिकार रहेगा। इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि कौटिल्य, समस्त आर्थिक क्रियाओं पर शासन का नियंत्रण चाहते थे।

कौटिल्य मानते थे कि समाज में 'अर्थ' का महत्व होता है, क्योंकि अर्थ के आधार पर ही 'काम' व 'धर्म' की व्यवस्था संभव है।

कौटिल्य एक मजबूत राष्ट्र के लिए सबल राष्ट्रीय कोष के पक्षधर थे। अस्तु उन्होंने कोष के लिए सुरक्षाकर्मियों की व्यवस्था, कराधान व उनकी दरों के विषय में सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उनकी कर व्यवस्था कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु हैः-

''पक्वं पक्वमिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात्।
आत्मच्छेदभयादामं वर्जयेत् कोषकारकम्।।''[22]

अर्थात् राजा को चाहिए कि वह दुष्ट पुरुषों का धन, उसी प्रकार ले ले, जिस प्रकार वाटिका से पके फल को लिया जाता है, किन्तु धर्मात्म पुरुषों का धन वह उसी प्रकार छोड़ दे, जैसे कच्चे फल को छोड़ दिया जाता है। कच्चे फल के समान, धर्मात्मा पुरुषों से वसूला गया धन प्रजा के क्रोध का कारण बन जाता है।

चाणक्य द्वारा प्रणीत सूत्रों का प्रारंभ ही उनकी दृष्टि को स्पष्ट करता है-

''सुखस्य मूलं धर्मः।

22 कौटिल्य अर्थशास्त्र-5/90/2

धर्मस्य मूलमर्थः॥
अर्थस्य मूलं राज्यम्॥
राज्यस्यमूलमिन्द्रियजयः॥
इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः॥
विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा॥
वृद्धसेवाया विज्ञानम्॥
विज्ञानेनात्मानं संपादयेत॥''[23]

अर्थात् सुख का मूल धर्म है। धर्म का मूल अर्थ है। अर्थ का मूल राज्य है। राज्य का मूल इन्द्रिजय है। इन्द्रियजय का मूल विनय (नम्रता) है। विनय का मूल वृद्धों की सेवा है। वृद्धों की सेवा का मूल विज्ञान है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको विज्ञान संपन्न बनाए।

आगे चाणक्य कहते हैं-

''संपादितात्मा जितात्मा भवति॥
जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्येत॥''[24]

अर्थात् जो मनुष्य विज्ञान से सम्पन्न होता है, वह स्वयं को भी जीत सकता है। अपने ऊपर काबू पाने वाला मनुष्य समस्त अर्थों से सम्पन्न होता है।

यह आचार्य चाणक्य की जीवन दृष्टि है जिसमें धर्म, अर्थ, इन्द्रिय जय, विनय, वृद्धों की सेवा, विज्ञान, आत्मज्ञान, स्वयं पर नियंत्रण आदि नियमों को समरूप में विचार करते हुए राष्ट्र चिंतन किया गया हैं।

चाणक्य के अर्थशास्त्र संबंधी चिंतन में राजा के कार्यव्यापार, समाहर्ता का कर संग्रह कार्य, कर वसूली के नियम, क्रय एवं विक्रय, कोष का अधिकाधिक संग्रह, राज्य कर्मचारियों के भरण-पोषण, क्षय-व्यय एवं लाभ पर विचार तथा समस्त राज्य की व्यवस्था करने के नियमों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। एक ऐसा ग्रन्थ उन्होंने रचा, जिसको केन्द्र में रखकर राज्य व्यवस्थाएं सुचारु रूप से संचालित की जा सकती है।

चाणक्य ने विदेश व्यापार को भली प्रकार से समझकर, राज्य की आय एवं सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए उसे महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। उन्होंने विदेश व्यापार को बढ़ाने के लिए करों में छूट एवं प्रोत्साहन देने का पक्ष लिया। तटकरों (Tariffs) को उपयोग में लाकर, निर्यात एवं आयात दोनों में प्रयोग करने को कहा। विदेश से आयात होने वाली विलासिता की वस्तुओं पर भारी कराधान लगाने की सलाह दी। दूसरी ओर सामान्य उपभोग की वस्तुओं के आयात पर कम कर लगाने का सुझाव दिया। आधारभूत ढाँचे (Infrastructure) को राष्ट्र के निर्माण, वाणिज्य तथा व्यापार की गतिविधियों को बढ़ाने में आवश्यक माना।

23 चाणक्य प्रणीत सूत्र - 1-8
24 चाणक्य प्रणीत सूत्र - 9-10

भारत की स्वतंत्रता-संग्राम के काल में जो राष्ट्रीय नेतृत्व भारत को मिला उसमें अनेक विचारक अर्थशास्त्री के रूप में भी उल्लेखनीय हैं। दादा भाई नौरोजी की पुस्तक 'पावर्टी ऐंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' में गरीबी के कारणों पर प्रकाश डाला गया तथा यह स्थापित किया गया कि भारत में गरीबी का कारण ब्रिटिश शासन था। जस्टिस रानाडे, रमेश चन्द्र दत्त, गोपाल कृष्ण गोखले आदि ने भारतीय अर्थव्यवस्था से संबंधित विषयों का निरूपण किया।

महात्मा गाँधी के आर्थिक विचार भी भारतीय पृष्ठभूमि, मनीषा एवं विचार परंपरा के अनुरूप थे। गाँधी जी ने भारत को आर्थिक दुर्दशा से निकालने के लिए बहुपयोगी व व्यावहारिक कार्य योजना रखी।

गाँधी जी विकास का अर्थ मात्र आर्थिक विकास से नहीं लेते थे, वरन् उनकी समग्र विकास की अवधारणा सामाजिक सरोकारों से जुड़ी थी। गाँधी जी का लक्ष्य मनुष्य का एकीकृत विकास था जिसमें सभी के सहयोग से मनुष्य का सर्वांगीण विकास निहित था, जो भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनो का संयोग होगा।

उनका स्पष्ट मत था कि सर्वप्रथम गरीबी का उन्मूलन होना चाहिए, तभी मनुष्य की क्षमताओं का अधिकतम उपयोग किया जा सकेगा। उन्होंने पाया कि भारत में गरीबी का मुख्य कारण अंग्रेजों द्वारा भारत का शोषण तथा लोगों को लाभदायक रोजगार की अनुपलब्धता थी। अपनी पुस्तक 'हिन्दी स्वराज' में कहा है कि मि. रमेश चन्द्र दत्त की पुस्तक 'हिन्दुस्तान का आर्थिक इतिहास' जब मैंने पढ़ी तब मेरी हालत ऐसी हो गई थी कि उसका फिर से विचार करता हूँ, तो मेरा दिल भर आता है। मशीन की झपट लगने से ही हिन्दुस्तान दरिद्र हो गया है। मैनचेस्टर ने जो हमें नुकसान पहुँचाया है उसकी तो कोई हद ही नहीं है। हिन्दुस्तान से कारीगरी जो करीब-करीब खत्म हो गई, वह मैनचेस्टर का ही काम है। ..... मुझे तो लगता है कि हमें यह स्वीकार करना होगा कि अंग्रेजी राज्य को यहाँ टिकाए रखने वाले ये धनवान लोग ही हैं।''[25]

महात्मा गाँधी बड़े पैमाने पर मशीनों के खिलाफ थे। उनका स्पष्ट मत था कि भारत जैसे श्रम-प्रधान देश में श्रम प्रधान तकनीकों का ज्यादा प्रयोग होना चाहिए। उनका विचार था कि मशीन मनुष्य की सहायक हों, नियंता न बने। यंत्र, मानव के कला, निपुणता, शरीर व मस्तिष्क का विकास कराने में सहायक हो, मशीन द्वारा अनुत्पादक मनुष्य, उत्पादक स्वामी के रूप में विकसित हो सकें।

वे श्रम-आधारित कुटीर उद्योग प्रणाली के पक्षधर थे। उन्हें छोटी इकाइयों द्वारा विकेन्द्रीकृत उत्पादन पसंद था। वे एक श्रमनिष्ठ समाज की स्थापना चाहते थे। प्रत्येक नागरिक स्वावलंबी बने तथा शहरों की ओर भागने की प्रवृत्ति न रहें। प्रत्येक उत्पादक, उत्पादन के साधनों का स्वामी बन सके।

वे पूँजी-प्रधान तकनीक के विरोधी थे, क्योंकि इससे बेरोजगारी बढ़ती है। वे मशीनों के विरोधी नहीं थे, परन्तु मशीनवाद के विरोधी थे। वे अंधाधुध मशीनीकरण के विरोधी थे।

उन्होंने ट्रस्टीशिप की अवधारणा को भारतीय परिप्रेक्ष्य में उपयुक्त माना। उनका यह सिद्धान्त

25 महात्मा गाँधी : हिन्दी स्वराज, पृष्ठ-70-71

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एवं कम्यूनिस्ट प्रणाली की अर्थव्यवस्था से अलग था। मानव कल्याण का भाव इसके केन्द्र में था। यहाँ मनुष्य संपत्ति का 'ट्रस्टी' था, अतः आवश्यकतानुसार ही उपभोग करना श्रेयकर था। असीमित उपभोग एवं विलासतापूर्ण जीवन के विरुद्ध उनकी अलग सोच थी। गाँधी जी का अर्थशास्त्र मूलतः 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' को केन्द्र में रखता था।

गाँधी जी, कृषि एवं उद्योग के संतुलन पर आधारित अर्थव्यवस्था के पक्षधर थे। कृषि, प्रधान भूमिका में तथा लघु, कुटीर एवं ग्रामोद्योग उसके सहयोगी क्षेत्र के रूप में विकसित हो। वे विकेन्द्रीकरण के प्रबल समर्थक थे।

गाँधी जी आर्थिक चिंतन में, खादी, ग्रामोद्योग, चरखा, कुटीर उद्योग, ट्रस्टीशिप, श्रम का महत्व, विकेन्द्रीकरण, श्रम प्रधान तकनीक, मनुष्य व गाँवों का स्वावलंबन, जीवन के आर्थिक क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का संरक्षण आदि विषय केन्द्रीय स्थान पर हैं।

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन में एकात्म मानववाद के प्रवर्तक दीनदयाल उपाध्याय का योगदान अप्रतिम है। उन्होंने भारतीय चिंतन के आधार पर 'अर्थायाम' की अवधारणा की स्थापना की। उनके शब्दों में 'समाज में अर्थ के प्रभाव एवं अभाव दोनों को मिटाकर उसकी समुचित व्यवस्था करने को अर्थायाम कहा गया है।' आवश्यक है कि समाज के मानदंड ऐसे बनाए जाए कि हर वस्तु पैसे से न खरीदी जा सके। देश के लिए लड़ने वाला सैनिक, अपने जीवन की बाजी अर्थ की कामना से नहीं लगाता। अर्थ का लालच उसे देशद्रोह सिखा सकता है, देश भक्ति नहीं।''[26]

दीनदयाल जी का आर्थिक दर्शन राष्ट्रहित को केन्द्र में रखकर विकसित हुआ था। वे समाज या व्यक्ति को खण्ड-खण्ड में बाँटकर विचार नहीं करते थे। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक सभी पहलुओं को अंगीकृत करके उनकी चिंतनधारा विकसित होती है। दीनदयाल उपाध्याय जी राष्ट्रीय सुरक्षा, पूर्ण रोजगार, न्यूनतम उपभोग की गारण्टी तथा विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था की अर्थनीति को प्राथमिकता में रखते हैं।

उनके अनुसार कृषि, उद्योग, वाणिज्य एवं समाज-सेवाएं राष्ट्र के आर्थिक जीवन की प्राथमिकताओं में आते हैं। कृषि के क्षेत्र में उर्वरक के स्थान पर देशी खाद का प्रयोग श्रेष्ठ मानते थे। बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के स्थान पर छोटी-छोटी परियोजनाएं, तालाब, कुएं आदि को महत्व देते थे।

उद्योग के क्षेत्र में छोटे-छोटे उद्योगों के पक्षधर थे जो स्थानीय स्तर पर कच्चे माल की उत्पादकता के आधार पर विकसित हों। उनकी दृष्टि में हमारा सामाजिक लक्ष्य राष्ट्र की सुरक्षा-सामर्थ्य को बढ़ाना, उपभोग एवं उत्पादक वस्तुओं की वृद्धि, प्रत्येक व्यक्ति को काम, न्यूनतम स्तर की उपलब्धता, विषमताओं में कमी एवं विकेन्द्रीकरण आवश्यक है।

दीनदयाल उपाध्याय जी श्रम प्रधान तकनीक के पक्षधर थे। वे विदेशों से आयातित मशीनों के विरुद्ध

26 भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा, पृष्ठ-19

थे। उनके विचार में देश में अपनी उपलब्ध प्रद्यौगिकी का विकास किया जाना चाहिए। 'ये सब ऐसे कारण हैं, जो हमारे लिए मशीन का स्वरूप निर्धारण करते हैं। वह निश्चित ही छोटी, सरल, हल्की और सस्ती होनी चाहिए। इस प्रकार की मशीनों का हमें विकास करना चाहिए।[27] मशीनों के सन्दर्भ में उनके विचार उल्लेखनीय हैं-

वास्तव में मशीन न तो मनुष्य की शत्रु है और न तो मित्र। वह एक साधन है तथा उसकी उपादेयता समाज की अनेक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर है।[28] छोटे एवं बड़े उद्योगों का विवेचन करते समय वे लघु उद्योगों के पक्ष में थे।

वे विदेशी पूँजी के समर्थन में नहीं थे, क्योंकि वह दीर्घकाल में राष्ट्र के हित में नहीं हो सकती। वे अंधाधुंध आयतों के पक्ष में नहीं थे।

उनका स्पष्ट मत था कि भारतीय चिंतन परम्परा के प्रति दुराग्रहपूर्ण प्रचार किया गया है कि हम भौतिक जीवन की उन्नति के विषय में उदासीन हैं। उनके शब्दों में-

आर्थिक प्रश्नों के समाधान हेतु पश्चिम की ओर देखने का एक प्रमुख कारण भौतिक जीवन की समस्याओं के प्रति उदासीन होना है। यह भ्रम दूषित प्रचार एवं आध्यात्मिकता का गलत अर्थ करने का परिणाम है। वास्तविकता तो यह है कि हमारे धर्म की व्याख्या भौतिकता का पूर्ण विचार करके चलती है। ''यतोऽभ्युदयानिःश्रेयससिद्धि स धर्मः'' अर्थात् जिसमें ऐहिक और पारलौकिक उन्नति प्राप्त हो, वह धर्म है। जिसने इस लोक को छोड़ दिया, वह परलोक को नहीं बना सकेगा। भौतिकता और आध्यात्मिकता परस्पर विरोधी अथवा विलग भाव नहीं है। आध्यात्मिकता जीवन का एक दृष्टिकोण है, जिससे हम सभी प्रश्नों की ओर देखते हैं। अध्यात्मवाद यदि विश्व की सही व्याख्या कर सकता है तो कोई कारण नहीं है कि उसके द्वारा हम विश्व की समस्याओं का समाधानपूर्वक हल न प्राप्त कर सकें।''[29]

उपरोक्त से स्पष्ट है कि दीनदयाल उपाध्याय जी प्राचीन भारतीय चिंतन परम्परा में रचे बसे हैं परन्तु आधुनिक संदर्भों को उससे जोड़कर आर्थिक समस्याओं के प्रति सही मार्ग बतातें हैं। उनका एकात्म मानववाद जीवन के सभी पहलुओं पर विचार करने में समर्थ है। एकात्म मानववाद का लक्ष्य सभी में समन्वय स्थापित करके मानव जगत को शाश्वत सुख प्रदान करना है। वे मानते थे कि मानव तभी शाश्वत सुख प्राप्त करेगा, जब शरीर,मन, बुद्धि,एवं आत्मा में समन्वय हो।

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन में भारतीय धर्मग्रन्थों यथा- उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता आदि की हमारी चिंतन परम्परा के आधार पर प्रो. जे. के. मेहता का योगदान भी उल्लेखनीय है। उन्होंने आवश्यकता-

27 भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा, पृष्ठ-82

28 भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा, पृष्ठ-84

29 दीनदयाल उपाध्याय : भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा, पृष्ठ-17

रहितता (Theory of Wantlessness) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके अनुसार अधिकतम संतुष्टि के लिए व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं को सरल एवं न्यूनतम स्तर पर लाना चाहिए। असीमित इच्छाएं तथा भौतिक संपत्ति में वृद्धि के लिए पागलों जैसी भागदौड़ का परिणाम प्रौद्योगिकी के अधिकाधिक जटिल होने में होती है, जिससे केन्द्रीकृत बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रक्रिया तथा उसके परिणाम स्वरूप संसाधनों का अत्याधिक दोहन, गलाकाट प्रतियोगिता, राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा का आचरण, पर्यावरण असंतुलन, प्रदूषण तथा जीवन के मानवीय दृष्टिकोण का पतन दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रो. जे. के. मेहता की अर्थचिंतन की दृष्टि भारतीय मनीषियों की जीवन-दृष्टि से मेल खाती है। अनेक आर्थिक विचार महात्मा गाँधी और दीनदयाल जी के निकट हैं। उनका विचार था कि अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र एक दूसरे से निकट जुड़े हुए हैं। उन्होंने मानव को आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से खण्ड-खण्ड करके विचार करने का विरोध किया तथा समग्र दृष्टि का पक्ष लिया।

प्राचीन भारतीय अर्थिक चिंतन में एक तत्व स्थाई है, वह है- 'साध्य-साधन-विवेक'। अनैतिक शोषण द्वारा विकास न तो व्यष्टि (Micro) स्तर पर उचित है, न ही समष्टि (Macro) स्तर पर। इस परम्परा में वेद, उपनिषद, महाभारत, रामायण, मनुस्मृति, शुक्रनीति, दीनदयाल उपाध्याय, प्रो. जे. के. मेहता प्रभृति राष्ट्रवादी चिंतनधारा आज के संदर्भ में भी उपयोगी है। यह पुरातनपंथ नहीं है वरन् हमारे बहुमूल्य जीवनमूल्य हैं जो हमारी विशिष्टता हैं और यही जीवन-पद्धति श्रेष्ठ है।

भारत की आर्थिक संस्कृति

डॉ. प्रमोद कुमार दुबे[1]

लक्ष्मी शब्द का अर्थ है- जो शक्ति उद्यमी को स्वयं लक्ष्य बनाती है, देखती है- 'लक्ष्यति पश्यति उद्योगिनं सा लक्ष्मीः' (लक्षि + मुट् + ई = लक्ष्मी)। लक्ष्मी किसी आलसी अकर्मण्य को लक्ष्य नहीं बनाती, न किसी लुटेरे को। लक्ष्मी स्वयं लक्ष्य बनाती है और स्वयं ही वरण करती है। वही लक्ष्मी स्तुत्य है- स श्रियः श्रेयसऽस्तुव। आदिकवि वाल्मीकि ने बताया है कि लक्ष्मी द्वारा वांक्षित सभी शुभ लक्षण श्रीराम में विद्यमान हैं-

पीनवक्ष विशालाक्षो लक्ष्मी वाञ्छुभ लक्षणः[2]

श्रीराम में सीता के वरण योग्य कौन-कौन शुभ लक्षण हैं? धर्मज्ञ, सत्यभाषी, अक्रोधी, दृढ़ प्रतिज्ञ, अनिन्दक, उपकारी इत्यादि। विष्णु प्रिया पृथ्वी की पुत्री माता सीता साक्षात लक्ष्मी हैं। जब रावण सीता माता के अपहरण के लिए दण्डकारण्य की पंचवटी में गया, श्रीराम की पर्ण कुटी के निकट पहुँचा, उसने पहली बार माता सीता को देखा, सहसा उसके मुँह से निकला-

ह्रीः श्रीः कीर्तिः शुभा लक्ष्मी अप्सरा वा शुभाऽनने।[3]

रावण ने प्रथम दृष्टि में माता सीता के लक्ष्मी स्वरूप को देखा। उसने ह्रीः श्रीः कीर्ति, शुभा लक्ष्मी समझा। पर भवितव्यता के कारण अगले क्षणों में क्रमशः उसकी मति मलिन होती चली गई, उसे माता सीता में अप्सरा दिखने लगी।

बर्बरता पूर्वक अपहरण की हुई लक्ष्मी सर्वनाश का कारण बन जाती है। यह केवल रामायण-कालीन वृतांत नहीं है, यह ऐतिहासिक सत्य आज भी विश्व में घटित हो रहा है। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही मार्गों में अंधकार है, एक में तमोगुण का अंधकार है, दूसरे में सत्व गुण का अंधकार। इन दोनों के मध्य वैदिक धर्म का मार्ग गुजरता है, धर्म अभ्युदय और निश्रेयस दोनों को साथ लेकर चलता है- यतोऽभ्युदयनिःश्रेस सिद्धिः स धर्मः।[4]

---

1 प्रोफेसर, भाषा शिक्षा विभाग, एनसीइआरटी नई दिल्ली-16 E-mail-pramod.d96@gmail.com

2 वाल्मीकि रामायण 1/1/11

3 वाल्मीकि रामायण 3/46/ 16-17

4 वैशेषिक दर्शन- सूत्र 2

यह कहने के पहले कि सुखद अर्थ का आश्रय धर्म ही है, बताना होगा कि इस प्रसंग में धर्म का अभिप्राय रिलिजन अथवा मजहब नहीं है, धर्म का अभिप्राय है वह सामाजिक विश्वसनीयता यानी साख या क्रेडिट जिसका आधार लेकर व्यापार उपकारी और स्थायी होता है। यही धारणा भारतीय आर्थिक संस्कृति की केन्द्र बिन्दु है।

अर्थ की इच्छा प्रकृति है, अधर्म से अर्थ संग्रह विकृति और धर्म से अर्थ संग्रह संस्कृति है। अर्थ के प्रभाव से विलासिता संबन्धी विकृति उत्पन्न होती है और अर्थ के अभाव से भी दासता, भुखमरी, अपराध जैसी विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। जब अर्थ संग्रह में धर्मनिष्ठा, उद्यम और त्याग की भावना होती है, तभी भारत की आर्थिक संस्कृति प्रकट होती है।

ज्ञान-विज्ञान, उद्यम-कौशल और मनुष्य की प्रवृत्तियों में विभिन्नता है, विभिन्न प्रकार के अर्थतंत्र हैं, इसलिए सर्व संपन्न भारत की अर्थ संस्कृति में भी लक्ष्मी के विविध स्वरूप हैं- पद्मा, कमला, राजलक्ष्मी, श्रीदेवी, उलूकवाहिनी इत्यादि। लक्ष्मी के एक स्वरूप को महालक्ष्मी कहा जाता है। सर्वव्याप्त और महनीय होने कारण इस अर्थ शक्ति को महालक्ष्मी और सागर में रहने के कारण महाश्री कहा गया है-

महनीया च सर्वत्र महालक्ष्मीः प्रकीर्त्तिताः।
महाब्धिश्रयणीयत्वान्महा श्रीरिति गद्यते॥

लक्ष्मी के विविध स्वरूपों में सबसे सूक्ष्म हैं, वाक् लक्ष्मी या वाचिक लक्ष्मी। इस लक्ष्मी को प्रकृति ने सभी जीवों के प्राणों में पिरोया है। ऋग्वेद ने मनुष्य को वचन में निहित लक्ष्मी से परिचय कराया है-

'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि'।[5]

ऋग्वेद के ऋषि ने वाचिक लक्ष्मी का परिचय ही नहीं दिया है अपितु सावधान भी किया है कि सम्हाल कर बोलना, स्वच्छ, तथ्यपूर्ण, सार, मधुर, सहज संवादी वाणी जैसे छननी से छना हुआ सत्तू- 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत'।[6] महाभारत का कथन है- जो मनुष्य कठोर और तीखे वचन रूपी काँटों से दूसरे व्यक्ति को छेद देता है, ऐसे व्यक्ति को देखने मात्र से लक्ष्मी नष्ट हो जाती है, ऐसे व्यक्ति के मुँह में पाप रहता है- **अरुन्तुदं पुरुष तीक्ष्ण वाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।**[7] वेद उपदेश नहीं देते, सर्वथा हितकर होने के कारण आदेश देते हैं। पुराण इतिहासादि भारतीय ग्रंथ वेद वचन का अनुसरण करते हैं, उनका कभी अतिक्रमण नहीं करते। वाल्मीकि ने वेदोक्त वाचिक लक्ष्मी का निरूपण विष्णु स्वरूप श्रीराम में किया है।

आज वैश्वीकरण के बाद ग्लोबल गाँव के लोग सूचना व्यवसाय की वाचिक लक्ष्मी की शक्ति को

5 ऋग्वेद 10/71/2

6 ऋग्वेद 10/71/2

7 महाभारत, उद्योगपर्व 36/8

समझ गए हैं, सूचना को शक्ति माना जा रहा है, लेकिन अभी वे लोग मंगलकारी भद्रा वाचिक लक्ष्मी को नहीं जानते। सूगर कोटेड पेंचदार बोली जानते हैं, सत्यनिष्ठ मृदुल वाणी नहीं, यह तो राम से ही सीखना होगा। कहा नहीं जा सकता कि कब सूचना युद्ध की रणभूमि में मोर्चे बनाने वाले लोग श्रीराम का अनुसरण करेंगे, इतिहास का चलचित्र चलने दीजिए।

उत्तराधुनिक समय में कार्ल मार्क्स के स्थूल पूँजी विमर्श का युग पीछे छूट चुका है। अनेक उत्तराधुनिक नव-मार्क्सवादी समाजशास्त्री सूचना, संप्रेषण, भाषा, संस्कृति की सूक्ष्म आर्थिक शक्ति पर विचार कर रहे हैं जो लगभग वाचिक अर्थशक्ति ही है। इसे लक्ष्मी कहना उचित नहीं है क्योंकि यह अर्थशक्ति स्वतः उद्यम का फल बनकर नहीं आ रही है, उसे बलपूर्वक पकड़ा जा रहा है, घसीट कर अपने पल्ले में लाया जा रहा है, इसके दुष्परिणाम हो रहे हैं, यह अमंगलकारी है ।

उत्तराधुनिक विचारक पियरे वोरदियू ने पूँजी को चार वर्गों में बाँटा है- प्रतीकात्मक पूँजी, सांस्कृतिक पूँजी, सामाजिक पूँजी और आर्थिक पूँजी। इन चारों में रूपान्तरण की प्रक्रिया घटित हो सकती है। प्रतीकात्मक पूँजी को सांस्कृतिक पूँजी में, सांस्कृतिक पूँजी को सामाजिक पूँजी में और सामाजिक पूँजी को स्थूल आर्थिक पूँजी में रूपान्तरित किया जा सकता है।

इस आर्थिक चक्र की दृष्टि से भारत विश्व का सबसे संपन्न राष्ट्र है। इस तथ्य से कितने भारतीय परिचित हैं और भारत सरकार कितनी सजग है कि विश्व में सबसे अधिक प्रतीकात्मक और सांस्कृतिक पूँजी भारत के पास है? यदि सजगता होती तो दशा कुछ और होती। हिन्दुओं की आस्था के प्रतीकों पर विदेश में हमले होते रहते हैं। विदेशी व्यवसायी हिन्दू देवी देवताओं के चित्रों को कभी जूते पर, कभी टॉयलेट सीट पर तो कभी स्विम वियर पर छाप देते हैं। ऑस्ट्रेलिया की एक डिजाइनर लीसा ब्लू ने बिकनी पर कमलासना लक्ष्मी के चित्र का दुरुपयोग कर दिया। हमेशा की तरह धार्मिक आस्था पर प्रहार का आरोप लगा, क्षमा माँगने की औपचारिकता पूरी हुई और बात धरी की धरी रह गई कि प्रतीक पूँजी है, सामान्य पूँजी नहीं, सजीव सांस्कृतिक पूँजी, यह केवल भावुक आस्था नहीं है। हिन्दू आस्था के प्रतीकों से वर्षों चीन ने बड़ी कमाई की और प्लास्टिक से हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर अपने प्लास्टिक कचड़े को भारत में डंप किया।

हमें जानना चाहिए कि हमारे शास्त्रों में मिट्टी से बनी मूर्ति को स्वर्ण मूर्ति के बराबर महत्त्व क्यों दिया गया है? इसका कारण यह है कि अष्ट वसुओं को धारण करनेवाली पृथ्वी को वसुंधरा कहा जाता है। अष्ट वसु में पृथ्वी से प्राप्त होनेवाली स्वर्णादि विभिन्न प्रकार के धातु, रत्न, खनिज, लवण, अन्न, जल इत्यादि सभी भू-संपदाएँ वर्गीकृत की गई हैं और छप्पन प्रकार के रसों सहित भूमि स्थित पंचतत्त्व की तीन सौ साठ रश्मियों के प्रत्यक्ष विग्रह पृथ्वी को विष्णु प्रिया श्री लक्ष्मी माना गया है। यही प्राणिमात्र का पोषण देनेवाली वैदिक ऋषियों की स्तुत्या देवी पूषा है, रामायण की भूमिजा माता सीता हैं। इसीलिए मिट्टी से बनी हुई देवी-देवताओं की मूर्ति को स्वर्ण मूर्ति के समान महत्त्व प्राप्त है।

भारतीय उपास्य प्रतिमाएँ मिथ पर आधारित ग्रीक कला के सदृश्य प्रतीक नहीं हैं, ये अनुष्ठानिक प्रतिमाएँ मंत्र की ध्वनि तरंगों और रश्मियों से आकृत्त होती हैं। वस्तुतः उपास्य प्रतिमाएँ सुव्यवस्थित व्याकरण से निर्मित एक ऐसी दृश्य भाषा हैं जो वेद भूमि भारत के अतिरिक्त विश्व में अन्य किसी सभ्यता के पास नहीं है।

भारत की शास्त्रीय ज्ञान संपदा और आर्थिक संस्कृति को लोक मानस के लिए सहज सुलभ कराने में इन प्रतिमाओं का बहुत बड़ा योगदान है। यह दृश्य भाषा हमारे सामाजिक जीवन में इतनी रच-बस गई है कि सामान्य मूर्तिकार हो या चित्रकार अपने कला कौशल से पूज्य प्रतिमाएँ बना-बेंच कर अर्थार्जन कर लेता है। यह खेद का विषय है कि इतनी ज्ञानमयी और सशक्त दृश्य भाषा और उसकी विषय वस्तु के लिए आधुनिक शिक्षा में कहीं स्थान नहीं है, उलटे इस बौद्धिक संपदा को अंधविश्वास बता आधुनिक जन मजाक उड़ाकर अपनी दंभयुक्त मूर्खता का परिचय देते हैं। जड़बुद्धि मूर्ति भंजकों की भ्रांति अलग है।

दृश्य भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण मूर्ति पूजा के विरोधी संप्रदाय अक्सर परेशान रहते हैं। मन, वचन और कर्म से सभी परिचित हैं। मन में विचार उठते हैं, वे वचन में व्यक्त होते हैं वही कर्म में साकार हो जाते हैं। वैसे ही कर्म और वचन से मन में प्रवेश किया जा सकता है। बाह्याचार पूजा में यही बहिर्योग घटित होता है। सामान्य शब्दों में इस विषय की चर्चा करें- मन में वचन होता है, उसे न व्यक्त करें तो कोई जानेगा नहीं, वह वचन कर्म में बदल जाएगा। इसलिए संकल्प ही प्रथम है। संकल्प में उद्यम हो, वह उद्यम कर्म में साकार हो, तब अर्थ उत्पन्न हो जाएगा। यह मनोप्रबंधन (माइण्ड मैनेजमेंट) का विषय है। लक्ष्मी का स्वरूप इस विषय को संप्रेषित करता है।

लक्ष्मी कमल पर विराजमान हैं। कमल कीचड़ से उत्पन्न होता है, इसलिए कमल को पंकज कहते हैं। पंक या कीचड़ निर्धनता का द्योतक है। कीचड़ में जड़ जमाकर कमल-नाल जल की अँधेरी परतों को चीरता हुआ ऊपर सूर्य के प्रकाश में आता है। उस कमल-नाल के भीतर कमल के फूल की आकृति होती है, जैसे मन की छिपी हुई कामना, जो व्यक्त नहीं है। कमल नाल की वही अन्तर्संरचना यानी मनोकामना सूर्य के सम्मुख कमल पुष्प के रूप में व्यक्त हो जाती है। यह पुष्प जल में रहकर जल से निर्लिप्त रहता है, यह संदेश देता हुआ कि- **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः कस्य स्विद् धनम्**[8] – त्याग की भावना से भोग करो, गिद्ध की तरह ललचाई नजरों से मत देखो, यह धन हुआ किसका?

कमल का जन्म जल में होता है। छोन्दोग्य उपनिषद में जल को प्राण कहा गया है- आपोमयः प्राणः। जबतक जल है, प्राण रहेगा। जैसे पृथ्वी पर जल है, शरीर में भी बहत्तर प्रतिशत जल है। सागर की बेटी लक्ष्मी सबसे पहले प्राणों में झंकृत होती है, फिर मन में आती है, मन में विचारों की तरंगें उठती हैं, मन का कमल खिले, मन में उत्साह हो, प्रसन्नता हो, तभी तो उद्यम होगा, मरे मन से लक्ष्मी नहीं मिलती।

8 ईशावाश्योपनिषद -1

लक्ष्मी कमलासन की भाँति मनुष्य के मन का खिलना अनिवार्य है तभी उस पर लक्ष्मी विराजमान होती हैं। मनुष्य का मानस भी सोलह दलों के कमल की भाँति है।

हड़प्पा के मापक गवाह हैं कि आदिकाल से ही अनुष्टुप छन्द की चत्वारि गणना की वेदी बनी और विराट की दश संख्यक पद्धति के अनुसार राजमुद्रा का विधान हुआ। तौल का मापक हो या आयतन का मापक उनमें सोलह के आवर्त्तकों का उपयोग होता था। सोलह दलों की वेदी पर विराजमान दशसंख्यक श्रीविराट राजलक्ष्मी का प्रतीक बनी अर्थात सोलह आने का एक रूपया और एक पर पाँच शून्य से एक लक्ष। लक्ष, लक्ष्य और लक्ष्मी दोनों शब्दों का मूल है। दो उच्चारणों में प्रचलित लक्ष और लाख एक ही शब्द है। चीन के एक जीन में सोलह लियांग, इंग्लैण्ड के एक पौण्ड में सोलह औंस और भारत के एक रूपए में सोलह आना प्रचलित हुआ। आज दश संख्यक देवी तो है लेकिन उसकी वेदी गायब है। आधुनिक ज्ञानियों को पता नहीं है कि जिस गुप्त काल को भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है, उसकी स्वर्ण मुद्रा पर किस धारणा से प्ररित होकर लक्ष्मी अंकित हुई हैं?

यदि भारत की अर्थ संस्कृति का आधार तथ्य ज्ञात होता तो संभव था कि वर्तमान दश संख्यक मुद्रा पद्धति में वर्गीय शक्ति संरचना शेष रहती और तब कमलासना लक्ष्मी भारत की राजमुद्रा पर विराजमान रहती। लेकिन, आधुनिक भारत षोडशी लक्ष्मी का ध्यान मंत्र भूल चुका है और अपनी आर्थिक संस्कृति विस्मृत करके पश्चिमी देशों के पीछे भाग रहा है।

हिन्दू संस्कृति की नींव के पत्थरः कृषक, गौपालक, शिल्पकार और कलाकार समाज

डॉ. सत्य प्रकाश तिवारी[1]

संपन्न और आत्मनिर्भर भारत के निर्माण और उत्थान के लिये यह अति आवश्यक है कि जिन्हें आज पिछड़े और अति पिछड़े वर्ग के नाम से संबोधित किया जाता है उन्हें कृषक समाज, गौपालक समाज आदि नामों से संबोधित किया जाय। इसी तरह दलित, महादलित, गरीब और अतिगरीब कहे जानेवाले गन्धर्व संतानों को शिल्पकार समाज और कलाकार समाज जैसी सम्मानजनक संज्ञाओं से संबोधित किया जाय। इन समाजों के स्व-व्यवसायों को उन्नत कर उनकी आर्थिक और शिक्षा व्यवस्था को आत्मसम्मान के साथ उन्नत किया जाय, जिससे ऐतिहासिक और राजनीतिक त्रासदी से पीड़ित ये उपजातियां आत्मनिर्भर भारत के निर्माण में बराबरी का साथ देकर स्वयं को गौरवान्वित समझ सकें ।

वर्ण व्यवस्था

गीता के अध्याय चार में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि गुण और कर्मों के आधार पर मनुष्यों के चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरे द्वारा ही रचे गये हैं।[2] यद्यपि यह रचना परमात्मा ने ही की हैं पर उन्होंने स्वयं को रचनाकार नहीं माना और न ही इस रचना के फल से अपने आप को बाँधा। जिस मनुष्य के जैसे गुण और कर्म होंगे, उसी के आधार पर उसकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र वर्ण में गणना होगी। किसी भी सभ्य समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिये इस तरह की किसी न किसी व्यवस्था की आवश्यकता होती है। यह व्यवस्था ही हमारी प्राचीन सभ्यता की मूलभूत आधार थी। यही नहीं इस तरह की व्यवस्था संसार की सभी सभ्यताओं में किसी न किसी रूप में थी और आज भी है। हो सकता है कि इन वर्णों के नाम अलग तरह के हों ।

विचार कीजिये, वसुधैव कुटुम्बकं की व्यवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि समाज के इन वर्णों में कौन छोटा है और कौन बड़ा है, कौन प्रिय है और कौन अप्रिय है, कौन ऊँच है और कौन नीच

1 आचार्य, भौतिक विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, पूर्व कुलपति, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, म.प्र.

2 चतुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।गीता 4/13

है, एक वर्ण का कार्य श्रेष्ठ है और दूसरे वर्ण का कार्य निम्न है, एक वर्ण का कार्य आवश्यक है और दूसरे वर्ण का नहीं? इस समाज व्यवस्था में सभी वर्ण एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे से अलग कदापि नहीं। वसुधैव कुटुम्बकं की हिन्दू सभ्यता में ऐसे अलगाववादी विचारों का कोई स्थान हो ही नहीं सकता।

पुनः विचार कीजिये कि गीता में कहां लिखा है कि मनुष्यों के यह चार वर्ण उनके माता–पिता के वर्ण पर आधारित होंगे। गीता में स्पष्ट लिखा है कि मनुष्यों के चार वर्ण उनके गुण और कर्मों के आधार पर हैं। यह भी प्राकृतिक सत्य है कि सभी मनुष्यों के जन्म समय और स्थान अलग-अलग होते हैं, इसीलिए उनके गुण और कर्म भी अलग-अलग होते हैं, एक जैसे हो ही नहीं सकते। यह वैज्ञानिक सत्य भी है। समाज व्यवस्था में यह चारों वर्ण एक दूसरे के पूरक हैं, प्रतिस्पर्धा वाले नहीं। एक दूसरे के सहयोगी हैं एक दूसरे से अलग नहीं। यह परस्पर पूरक और सहयोग के भाव ही हिन्दू समाज की सुदृढ़ नींव के पत्थर थे और आज भी हैं ।

यही नहीं मनुष्यों के गुणों के आधार पर उनकी शिक्षा व्यवस्था भी थी। ब्राह्मण वेदों और धर्म शास्त्रों का अध्ययन करते थे, पठन पाठन करते थे। ज्ञान-विज्ञान में पारंगत होते थे। अनेक प्रकार की औषधियों की खोज करते थे और उनका निर्माण कर रोगियों का उपचार करते थे। ब्राह्मण ही समाज के सभी वर्णों के लोगों को उनके गुण और स्वभाव के अनुसार शिक्षा देते थे। इस तरह सामाजिक परम्पराओं में निरंतरता थी।

क्षत्रिय स्वभाव वालों को युद्ध कौशल, प्रजा पालन, प्रजा की रक्षा, राज्य की व्यवस्था आदि इसी तरह की समाज के लिये उपयोगी शिक्षा में पारंगत कराया जाता था। समाज सुरक्षित रहे, संगठित रहे, इस वर्ण का यह विशेष उत्तरदायित्व था।

वैश्य वृत्ति वाले मनुष्य व्यापार, कृषि, पशुपालन, भूमि व्यवस्था, जल व्यवस्था, अन्न व्यवस्था आदि अनेक समाज संचालन के लिये उपयोगी ज्ञान में पारंगत होते थे। समाज में किसी भी आवश्यक वस्तु का अभाव न रहे,समाज स्वस्थ एवं संपन्न रहे यह इस वर्ण का उत्तरदायित्व था।

शूद्र वर्ण के मनुष्य शिल्पकार एवं कलाकार वृत्ति के थे। इस वर्ण के लोग समाज की अनेक प्रकार से सेवा करते थे। इसी अनुसार उनको अनेक प्रकार की शिल्पकलाओं एवं कलाकृतियों की शिक्षा दी जाती थी। इस वर्ण के लोग भवन निर्माण, लकड़ी और लोहे की विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाने, मिटटी के बर्तन, कपड़ा और कपड़े के वस्त्र, चमड़े के जूते, वस्त्र एवं अन्य कृषि उपयोगी वस्तुएं बनाने, विभिन्न प्रकार की धातुओं के निर्माण, सोने, चांदी और तांबे की धातुओं के गहने और अन्य उपयोगी वस्तुएं बनाने, गृह सज्जा, केश सज्जा आदि अनेक कलाओं में अत्यंत कुशल होते थे। यही नहीं समाज की स्वच्छता के कार्यों में भी निपुण थे। इस वर्ण के लोग अपने आप को विश्वकर्मा की संतान मानते थे और आज भी विश्वकर्मा की पूजा करते हैं।

शूद्र वर्ण का ही एक वर्ग अपने आप को गन्धर्वों की संतान भी मानता है। इस वर्ग के लोग मानवीय

कलाओं में निपुण होते थे। नृत्य और गायन कला, चित्रकला, भित्तिचित्र, जादुई कला यहाँ तक कि गोपनीयता की कलाओं में भी इस वर्ग के लोग प्रवीण थे।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है की शूद्र वर्ण के लोग जो स्वयं में विश्वकर्मा और गन्धर्वों की संतान हैं विभिन्न कला कृतियों में निपुण थे, वह रचनाकार थे, कलाकार थे,समाज के शिल्पकार थे। समाज की रीढ़ की हड्डी थे, जिस पर सारा समाज मजबूती से टिका था और स्थिर था। अंग्रेजी में इन्हें craft community और artisan community नाम दिया गया है। भारतीय संस्कृति की विभिन्न कला-कृतियाँ इसी शिल्पकार और कलाकार समाज की देन हैं और यह कलाकृतियाँ ही आज भी हिन्दू समाज और हिन्दू सभ्यता की पहचान हैं।

जाति – उपजाति व्यवस्था

कालांतर में गुण और कर्मों के आधार पर मनुष्यों की वर्ण व्यवस्था माता-पिता के वर्ण के आधार पर अर्थात जन्मानुसार निश्चित होने लगी। माता-पिता जिस वर्ण के थे वही वर्ण संतान की भी मानी जाने लगी। यह वर्ण व्यवस्था की पहली विडम्बना थी। इस प्रकार कालांतर में यह वर्ण व्यवस्था हिन्दू समाज की जाति व्यवस्था बन गयी। यह विडम्बना यहीं नहीं रुकी, इस जाति व्यवस्था में उपजाति व्यवस्था भी आ गयी।

अब ब्राह्मण जाति में द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, शुक्ल, मिश्र, उपाध्याय, बनर्जी, मुखर्जी, निगवेकर, इत्यादि अनेक उपजातियां बन गयीं, जो भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न नामों से जानी जाती हैं। एक दिलचस्प बात यह रही कि इन विभिन्न उपजातियों ने अपने आप को किसी न किसी ऋषि की संतान माना और ऋषि के नाम पर अपने गोत्र निर्धारित कर लिये। इस तरह हिन्दू समाज में जन्म के आधार पर जाति-उपजाति व्यवस्था की जड़ें गहरी होती चली गयीं।

यही स्थिति क्षत्रिय वर्ण के मनुष्यों की भी हुई। गुण और कर्म के आधार से हटकर जन्म के आधार पर जाति व्यवस्था बनी और यह जाति व्यवस्था उपजाति व्यवस्था में बदल गयी। भारत के विभिन्न भागों में क्षत्रियों की अनेक उपजातियां जैसे चौहान, चंदेल, सिसोदिया, परमार, मराठा, सोलंकी, इसी तरह के नाम कश्मीर से कन्याकुमारी और गुजरात से आसाम तक प्रचलित हैं। ब्राह्मणों की तरह क्षत्रिय उपजातियों ने भी अपने आप को किसी ऋषि अथवा देवता की संतान माना जैसे सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, अग्निवंशी इत्यादि और इसी आधार पर अपने-अपने गोत्र सुनिश्चित कर लिये।

वैश्य वर्ण भी इसमें पीछे नहीं रहा। गुण और कर्म के आधार से हटकर जन्म आधारित वैश्य जाति अनेक उपजातियों में विभाजित हो गयी। व्यापार करने वाले वैश्य अग्रवाल, गुप्ता, बंसल, जिंदल, महाजन आदि अनेक उपजातियों के नाम से जाने जाते हैं। इस तरह जन्म आधारित वैश्य जाति में भी उपजाति व्यवस्था की जड़ें मजबूत हो गयीं।

इसी तरह कृषि और गोपालन का काम करने बाले किसान, लोधे, काछी, जाट, गुर्जर, अहिर,

कुरमी, मछुआरे आदि उपजातियों के नाम से जाने जाते हैं। इन सभी उपजातियों ने भी अपने आप को किसी ऋषि, देवता अथवा राजा की संतान माना और उसी अनुसार अपने गोत्र निश्चित कर लिये।

कालांतर में शूद्र वर्ण या शिल्पकार-कलाकार समाज के मनुष्य भी जन्म के आधार पर विभिन्न उपजातियों में विभाजित हो गये। चमड़े का काम करने वाले चर्मकार, कपड़े धोने का काम करने बाले धोबी, प्रसव का काम करने वाले धानुक, बाल बनाने वाले नाई, पत्तल बनाने वाले वारी, कपड़ा बुनने वाले कोरी, कपड़ा सिलने वाले दर्जी, नृत्य करने वाले नट, शिकार करने वाले बहेलिया, पान सुपारी का काम करने वाले पनवाड़ी, मिट्टी का काम करने वाले कुम्हार, लोहे का काम करने वाले लुहार, सोने चांदी का काम करने वाले सुनार, लकड़ी का काम करने वाले बढ़ई, सफाई का काम करने वाले सफाईकर्मी, पानी भरने वाले धीमर इत्यादि कहलाने लगे। इसी तरह अन्य शिल्प कलाओं, और कृत्य कलाओं में प्रवीणता के आधार पर अनेक उपजातियों के नाम दे दिए गये। इन सभी उपजातियों ने भी अपने आप को किसी ऋषि, मुनि, देवी, देवता, गन्धर्व अथवा राजा की संतान माना और उसी आधार पर अपने अपने गोत्र निश्चित कर लिये।

जाति - उपजाति संघर्ष

जन्म आधारित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों में कालांतर में गुण और कर्मों की गुणवत्ता क्षीण होने लगी। ब्राह्मण जाति में जन्मे लोगों के गुण और कर्म ब्राह्मणों जैसे नहीं रहे। इसी तरह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों में जन्मे लोगों के आचरण भी समाज अपेक्षित नहीं रहे। प्रकृति के नियमानुसार सभी जाति के लोगों में सभी वृत्तियों के मनुष्य पाये जाने लगे। ब्राह्मण अपराधी भी, शूर वीर भी और सूक्ष्म कलाओं में भी निपुण हुए। क्षत्रिय भी अपराधी, विद्वान् और कृत्य कलाओं में निपुण हुए। इसी तरह वैश्य और शूद्र जाति के लोग भी युद्ध कला, शिक्षा व्यवस्था और धर्म ज्ञान में प्रखर पाए गये। इस तरह जाति आधारित परम्परा में सभी ब्राह्मणों में न तो वह विद्वता और, न ही सभी क्षत्रियों में वीरता-धीरता रही। इसी तरह वैश्य और शूद्र जाति के भी सभी लोगों में न वह व्यापारिक कुशलता और न वह समाज सेवा की भावना रही।

इस तरह जन्म आधारित जाति व्यवस्था में समाज की आस्था कम हो गयी। आर्थिक सम्पन्नता का विशेष स्थान हो गया। सभी जातियों में शिक्षित और संपन्न लोग प्रभावशाली हो गये और जो उतने शिक्षित और संपन्न नहीं थे उनके साथ सहयोग के स्थान पर शोषण की नीति प्रारंभ हो गयी। इस तरह जाति सहयोग, समरसता और संवेदना के स्थान पर जाति स्पर्धा और जाति संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

यह संघर्ष यहीं नहीं रुका। उपजातियों में भी असहयोग और ईर्ष्या द्वेष व्याप्त हो गया। ब्राहमण जाति की उपजातियां अपने गोत्र, ज्ञान और समृद्धि के आधार अपने आप को एक दूसरे से श्रेष्ठ समझने लगीं। जिस क्षेत्र में जिस उपजाति के लोग अधिक होते वहां उनका वर्चस्व रहता और दूसरी उपजाति के लोगों को निम्न भूमिका में रहना पड़ता। ज्ञान-विहीनता के कारण यह उपजाति विभेद संघर्ष और हिंसा में भी बदल जाता।

यही स्थिति क्षत्रिय और वैश्य उपजातियों में भी हुई। क्षत्रिय उपजातियां अपने आप को एक दूसरे से अधिक शक्तिशाली स्थापित करने के लिये आपस में लड़ने लगीं। उपजाति आधारित छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। राजाओं का ध्यान प्रजा की ओर कम और राज्य विस्तार की ओर अधिक हो गया। आपस में एक दूसरे राज्य को नष्ट करने लगे। परिणाम स्वरूप युद्ध कौशल और सुरक्षा व्यवस्था का विकास रुक गया। भारत-भूमि की सीमाएं असुरक्षित हो गयीं।

वैश्य उपजातियों में भी असहयोग और स्पर्धा शुरू हो गयी। उत्पादन की गुणवत्ता और उसे सामान्य नागरिक को सही मूल्य पर उपलब्ध कराने की ओर ध्यान ही नहीं रहा। अपितु अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर धन संग्रह की वृत्ति प्रबल हो गयी। समाज कल्याण और समाज सम्पन्नता की भावना गौण हो गयी। इसका सबसे अधिक दुष्प्रभाव कृषक और गौपालक उपजातियों पर पड़ा। यह कृत्य समाज को स्वीकार नहीं था ।

यह उपजातीय संघर्ष शूद्र उपजातियों में भी कम नहीं था। विभिन्न कलाओं में निपुण यह उपजातियां अपनी कलाओं को एक दूसरे का पूरक न मानकर एक दूसरे से स्पर्धा करने लगीं। अपने पूज्य ऋषियों, मुनियों, देवी-देवताओं और गुरुओं के नाम पर अपने आप को एक दूसरे से अधिक श्रेष्ठ समझने लगीं। इस तरह विश्वकर्मा और गन्धर्व उपजातियाँ एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति से ग्रसित हो गयीं।

इन सभी जातीय-उपजातीय संघर्षों के रहते हुए भी हिन्दू समाज अपनी तरह से सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से संगठित था। मानवीय मूल्यों में प्रचुरता विद्यमान थी। एक दूसरे के प्रति संयमित आदर और प्रेम की भावना थी। अपना-अपना समाजिक उत्तरदायित्व संवेदना पूर्वक निर्वाह करते थे। एक दूसरे के दुःख–सुख में बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से सम्मिलित होते थे। प्राकृतिक और मानवीय आपदाओं के समय एक दूसरे के साथ दृढ़ता से खड़े होते और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना से पीछे नहीं हटते। यह हिन्दू समाज की बहुमूल्य समरसता थी।

ऐतिहासिक त्रासदी

समय के साथ-साथ विश्व में पश्चिम की ओर अन्य सभ्यतायें भी विकसित हुईं जो नए विचारों और नयी वैज्ञानिक तकनीकों से सुसज्जित थीं। वहां के निवासी अपनी इन सभ्यताओं के विकास और विस्तार के लिये आतुर थे। तकनीकी आधारित नये युद्ध कौशल विकसित किये गये थे और वे इनमें पारंगत थे। यह लोग जाति के आधार पर विभाजित नहीं थे, बल्कि पंथ या उपासना पद्धति के आधार पर भाईचारे की मजबूत नींव पर खड़े थे और एक शक्तिशाली पांथिक ताकत के रूप में आगे बढ़ रहे थे।

यही नहीं ये लोग अपनी इन नईं सभ्यताओं को विश्व के अन्य देशों में फ़ैलाने के लिये आक्रामक भी हो गये थे। अपनी शक्तिशाली सेनाओं को लेकर अन्य देशों पर चढ़ाई कर उन्हें पराजित करने लगे। वहां अपने अपने राज्य स्थापित कर अपनी सभ्यताएं फ़ैलाने लगे। पराजित देशों की मूल सभ्यताओं को समूल

नष्ट करने का भी प्रयास करने लगे ।

इन हमलावरों ने भारत की जाति-उपजाति आधारित सभ्यता की कमजोरी को समझा और अपने लाभ के लिये उसका दुरुपयोग किया। यहाँ के लोगों को यह समझाया कि वे लोग ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र जाति के लोगों से युद्ध नहीं करेंगे, उन्हें कोई हानि नहीं पहुंचाएंगे अपितु उनकी रक्षा करेंगे। वे तो केवल क्षत्रिय राजाओं से ही युद्ध करेंगे और उन्हें पराजित कर अन्य जातियों को क्षत्रिय राजाओं के आधिपत्य से मुक्त कर सुरक्षा प्रदान करेंगे। दुःख की बात यह रही कि ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र जाति के बहुत से लोगों ने इन आक्रान्ताओं पर विश्वास कर लिया और तटस्थ हो गये। युद्ध में क्षत्रिय राजाओं का अपेक्षित सहयोग नहीं किया। जाति–उपजाति संघर्ष में लिप्त सभी राजाओं ने भी संगठित होकर इन आक्रान्ताओं का विरोध नहीं किया, अपितु कुछ राजाओं ने इन आक्रान्ताओं का साथ भी दिया।

यहाँ के सामान्य लोग इन हमलावरों की राज्य स्थापित करने, राज्य को सुदृढ़ करने और अपनी सभ्यता को फैलाने की नीति और नियत को समझ ही नहीं पाए। वे तो यह सोच भी न सके कि एक दिन यह हमलवार हमारी संस्कृति को नष्ट करके हमारा धर्म परिवर्तन भी कर देंगे। फिर भी हिन्दू समाज की सभी जातियों के बहुत से लोग सजग हो गये थे और वे अपनी शक्ति अनुसार हमलावरों के इन षड्यंत्रों के विरुद्ध भारतीय समाज को सजग और संगठित करने में तन मन धन से जुटे थे।

भारत भूमि पर पहला विनाशकारी आक्रमण यूनान और खुरासानी सभ्यताओं से हुआ। पर उस समय चाणक्य जैसे नीतिकार और पोरस तथा चंद्रगुप्त जैसे शक्तिशाली राजा विद्यमान थे, जिन्होंने इन आक्रान्ताओं को अपने पराक्रम से हरा दिया। पर इन आक्रान्ताओं की सेना के बहुत लोग भारत भूमि में ही रह गये और यहाँ की सभ्यता में समाहित हो गये।

उस काल में भारत सोने की चिड़िया कहा जाता था और उसी काल में पश्चिम में इस्लामी सभ्यता का उदय हो रहा था। रेगिस्तान में पनपी यह सभ्यता आर्थिक अभावग्रस्त होने से आक्रामक थी। दूसरे राज्यों पर हमला कर वहां से धन सम्पति लूटना, वहां के लोगों की हत्या करना और उस राज्य की संस्कृति को नष्ट करना ही उनका उद्देश्य था। उत्तर-पश्चिम के इस्लामी राजाओं ने भारत पर भी आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया। उस काल खंड में जाति–उपजाति में विभाजित भारतीय समाज निरंतर शक्तिहीन और सामर्थ्यहीन हो रहा था। उत्तर भारत में छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़कर एक दूसरे को नष्ट करने पर तुले थे। स्थिति यहाँ तक थी कि अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिये यहाँ के हिन्दू राजा इन इस्लामी आक्रान्ताओं की सहायता मांगने लगे थे। यहीं से हमारी संस्कृति और सभ्यता का ह्रास शुरू हो गया।

इन इस्लामी आक्रान्ताओं ने आपस में बैर रखने वाले यहाँ के राजाओं को एक-एक करके परास्त किया और यहाँ की धन-सम्पति लूट कर अपने देश ले गये। यहाँ के धार्मिक स्थानों और ज्ञान के भंडार पुस्तकालयों को नष्ट कर दिया। धीरे-धीरे यह आक्रान्ता भारत भूमि में राज्य स्थापित कर यहीं बस गये और

जाति-उपजाति में विभाजित कमजोर होती हिन्दू सभ्यता को नष्ट कर इस्लामी सभ्यता स्थापित करने लगे। आर्थिक शोषण कर हिन्दू जातियों को धनहीन और शक्तिहीन बना दिया। फिर उन्हें भयभीत कर उनको अपना धर्म परिवर्तन करने के लिये मजबूर करने लगे। यही नहीं हिन्दू बहू-बेटियों को बेआबरू कर उनका धर्म परिवर्तन करने लगे। इस अत्याचार के विरुद्ध जाति-उपजाति में विभाजित हिन्दू समाज घोर संघर्षरत था, लेकिन वांछित सफलता नहीं प्राप्त हो रही थी पर यह संघर्ष निरंतर था।

इस्लामी आक्रान्ताओं के अत्याचारों से हिन्दू समाज की विभिन्न जातियां अलग-अलग तरह से प्रभावित हुईं। क्षत्रिय और वैश्य जातियां आर्थिक रूप से संपन्न थीं। इस संघर्ष में उनकी हिस्सेदारी भी अधिक थी। आक्रान्ताओं को राज्य स्थापित करने के लिये किसी न किसी रूप में क्षत्रिय और वैश्य जातियों के सहयोग की आवश्यकता भी थी। अतः इन जातियों ने अपने आप को किसी न किसी तरह सुरक्षित रख पाया। इन जातियों में धर्म परिवर्तन भी कम हुए पर आर्थिक और प्रशासनिक रूप से कमजोर हो गयीं और उनकी संघर्ष शक्ति भी कम हो गयी।

ब्राह्मण जातियों को पठन-पाठन और धार्मिक संस्थाओं को चलाने के लिये हिन्दू राजाओं की सुरक्षा प्राप्त थी। राजाओं के अशक्त होने से ब्राह्मण जाति असुरक्षित हो गयी। यही नहीं, आक्रान्ताओं ने इस्लाम धर्म की स्थापना के लिये ब्राह्मण उपजातियों को बहुत अधिक प्रताड़ित किया। धर्म स्थलों को नष्ट किया और धर्म परिवर्तन के लिये विवश किया। पर फिर भी ब्राह्मणों ने आर्थिक अभाव और असुरक्षा की कठिन परिस्थितियों में भारतीय संस्कृति के ज्ञान को किसी न किसी रूप में किसी भी तरह सुरक्षित रखा और समाज में धर्म परिवर्तन के विरुद्ध अधिक से अधिक सक्रिय भूमिका निभाई। अनेकों लोग मौत के घाट उतारे गये पर हिन्दू संस्कृति की सुरक्षा के पुण्य कर्म से पीछे नहीं हटे। कालांतर में अधिकांश ब्राह्मण उपजातियां धनहीन और आश्रयहीन हो गयीं। पर फिर भी हिन्दू समाज में भक्ति मार्ग का प्रचलन कर हिन्दू संस्कृति को सुरक्षित किया।

आक्रान्ताओं के इन अत्याचारों और दुष्कर्मों से शूद्र जाति की शिल्पकार और कलाकार उपजातियां सबसे अधिक प्रभावित हुईं। इन उपजातियों की अर्थ-व्यवस्था ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों की अर्थ-व्यवस्था से जुड़ी थी। आक्रान्ताओं के आक्रमण से इन जातियों के आर्थिक रूप से कमजोर होने से शिल्पकारी और कलाकारी के व्यवसाय कम हो गये। इससे इन उपजातियों की अर्थ-व्यवस्था अन्य उपजातियों की अर्थव्यवस्था से और अधिक निम्नतर हो गयी। अपने व्यवसाय के लिये यह लोग जगह-जगह भटकने लगे और कुछ उपजातियां खानाबदोश भी हो गयीं।

बात यहीं तक नहीं रुकी। आक्रान्ताओं ने इन उपजातियों की शिल्प और कृत्य कलाओं का उपयोग अपनी शैन्य-शक्ति को मजबूत करने और इस्लाम धर्म के प्रचार और प्रसार के लिये किया। इन उपजातियों को धन और सुरक्षा का लालच देकर और न मानने पर उन्हें प्रताड़ित कर उनका धर्म परिवर्तन किया। यह

इन उपजातियों के लिये सबसे बड़ी मानवीय वेदना थी। आक्रान्ताओं के भय और आतंक के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियां भी इनकी अधिक सहायता न कर सकीं। इस तरह शिल्पकार और कलाकार उपजातियां सबसे अलग-थलग हो गयीं और एक बहुत बड़ी संख्या में इस्लाम को अपनाने के लिये विवश हो गयीं।

समय के कालचक्र में भारत भूमि में यह इस्लामी राज्य भी कमजोर हो गये और अनेक हिन्दू राज्य फिर से आक्रामक हो अपने राज्य स्थापित करने के लिये संघर्ष करने लगे। पर इतिहास के इस काल-खंड तक हिन्दू राजा तकनीकी और आर्थिक रूप से कमजोर हो गये थे। इसी समय यूरोप की आधुनिक विज्ञान आधारित सभ्यता विकसित हुई। आधुनिक अस्त्र-शस्त्र विकसित हुए। इस तकनीकी शक्ति के साथ यूरोप से आये अंग्रेज, पुर्तगीज और फ्रेंच लोगों ने व्यापार के माध्यम से भारत में प्रवेश किया। कमजोर होते इस्लामी राज्य और आपसी वैर में लिप्त हिन्दू राज्यों की स्थिति का लाभ उठाते हुए व्यापार करते-करते इन यूरोपीय लोगों ने भारत में राज्य स्थापित कर लिया और अब जाति-उपजाति व्यवस्था में बंटे हिन्दू समाज के शोषण का एक नया दौर शुरू हो गया। शोषण के इस दौर में इंग्लैण्ड से आये अंग्रेजों ने अति निंदनीय भूमिका निभाई ।

यूरोप से आये यह लोग ईसाई धर्म के थे। इस्लाम धर्म के साथ इनकी कटुता थी और हिन्दुओं को ईसाई बनाने की इनकी नीयत थी और तकनीकी उपयोग से आर्थिक शोषण की नीति भी थी। अंग्रेज जाति के इन लोगों ने अपनी आर्थिक और राजनीतिक कूटनीति से भारत के एक बड़े भू-भाग पर राज्य स्थापित किया। फिर ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये सबसे पहले यहाँ की शिक्षा व्यवस्था को पूरी तरह बदल दिया। गुरुकुल व्यवस्था को हटाकर सरकारी स्कूल और कॉलेज बना दिए गये। इन स्कूल और कालेजों का प्रबंधन ईसाई मिशनरियों को दे दिया गया। इन शिक्षा संस्थाओं में अधिकांशतः ब्राह्मण जाति के अध्यापकों को नियुक्त किया गया और इन्हें सरकारी नीतियों के अनुसार निर्धारित पाठ्यक्रमों को पढ़ाने का आदेश दिया गया। अब गुरु शिष्य परम्परा के स्थान पर गुरु सरकारी नौकर हो गये और वही पढ़ाने लगे जो अंग्रेजों ने पढ़वाया। अंग्रेजी संस्कृति और ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार एवं विस्तार शिक्षा संस्थानों के माध्यम से होने लगा। इस अंग्रेजी व्यवस्था में ब्राह्मण जाति के बहुत से लोग सन्तुष्ट थे और वे अंग्रेजी व्यवस्था के साथ हो गये। पर समय के साथ इन शिक्षित ब्राह्मणों ने अंग्रेजों की सांस्कृतिक और आर्थिक शोषण की नीतियों को गहराई से समझा और अंग्रेजी शासन का विरोध करना भी प्रारंभ कर दिया।

इसी तरह अन्य सरकारी छोटे-छोटे पदों पर भी शिक्षित भारतीय नियुक्त कर दिए गये जो अंग्रेजों की नौकरी अंग्रेजी नीतियों के अनुसार करने लगे। क्षत्रिय उपजातियों को अधिकांशतः पुलिस और सेना में सरकारी नौकरी दी गयी। उच्च पदों पर भी नियुक्त किया और इन्ही उपजातियों की युद्ध और प्रशासन कुशलता का उपयोग कर अंग्रजों ने भारत भूमि पर राज्य विस्तार किया। यह लोग अधिकांशतः अंग्रेजी सरकार

के निष्ठावान हो गये। पर कुछ देशप्रेमी लोग सेना में भी थे वे अंग्रेजों की शोषण नीतियों के घोर विरोधी थे। सन् 1857 का स्वतंत्रता संग्राम सेना के विद्रोह से शुरू हुआ था।

अंग्रेजी शासन काल में वैश्य उपजातियां बहुत पिछड़ गईं। व्यापार व्यवस्था पर अंग्रेजों ने कब्ज़ा कर लिया। अंग्रेजी उत्पादन को प्राथमिकता दी गयी और उसी उत्पादन को भारतीय बाजार में बेचा गया। भारतीय उत्पादन को गुणवत्ता रहित और घटिया बताया गया। इसी तरह कृषि उद्योग को भी कमजोर कर दिया गया। सिंचाई व्यवस्था पर कर लगा दिया, खेती के लिये आवश्यक वस्तुएं महँगी कर दी गयीं और कृषि उत्पादन को सस्ते दामों पर ख़रीदा गया। इससे अंग्रेजी शासन के नौकर तो खुश हुए और वे अंग्रजों के और अधिक वफादार बन गये पर अन्न और दुग्ध उत्पादन करने वाली वैश्य उपजातियां आर्थिक और प्रशासनिक रूप से कमजोर हो गयीं। इसका सबसे बुरा प्रभाव जनमानस की स्वास्थ्य व्यवस्था पर पड़ा जो देश के लिये घातक सिद्ध हुआ। वैश्य उपजातियों का यह व्यापारिक शोषण निरंतर चलता रहा।

अंग्रेजों की भारत में जाति-उपजाति व्यवस्था के शोषण की नीति का सबसे अधिक दुष्प्रभाव विश्वकर्मा और गन्धर्वों की संतान शिल्पकार और कलाकार उपजातियों पर हुआ। मुस्लिम काल में ही इन उपजातियों के प्रति अन्य उपजातियों के घृणापूर्ण आचार को बढ़ावा देने की प्रशासनिक नीति शुरू हो गयी थी। समाज में इन उपजातियों के प्रति छुआ-छूत की भवना आ गयी थी। लालच देकर धर्म परिवर्तन भी किया जा रहा था।

अंग्रेजों ने भी इन परिस्थितियों का लाभ उठाया। बदलती हुई शिक्षा प्रणाली से इन उपजातियों को दूर रखा गया। उद्योग और व्यापार अंग्रेजों के हाथ में आने से शिल्प और कृत्य कलाओं के बहुत से काम मशीनों से होने लगे। इन उपजातियों की कलाकृतियाँ समय अनुकूल गुणवत्ता की नहीं रहीं और बाजार में हीनता से देखी-जाने लगी। परिश्रम अनुसार उचित मूल्य न मिलने पर समयांतर में यह लोग आर्थिक रूप से और भी कमजोर हो गये।

हिन्दू समाज की इन परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए अंग्रेजी मिशनरियों ने सरकारी नौकरी और धन का लालच देकर आर्थिक रूप से कमजोर शिल्पकार और कलाकार उपजाति के लोगों को हिन्दू से ईसाई बनाने का कार्य और तेजी से प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि बाद में न सरकारी नौकरी दी गयी और न धन। इससे यह उपजातियां अपनी शिल्प और कृत्य कलाओं में बहुत पीछे रह गयीं।

बात यहीं तक नहीं रही। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उपजातियों के जो लोग अंग्रेजी शासन व्यवस्था से जुड़ गये थे वह शिक्षित होकर, अंग्रेजों की नौकरी करते हुए अथवा अंग्रेजों की शासन व्यवस्था का हिस्सा बनकर अपनी ही सुरक्षा और प्रगति में व्यस्त थे, लेकिन कुछ लोग अवश्य थे जो अंग्रेजी शिक्षित थे और अंग्रेजी शासन का हिस्सा भी थे, वे इन उपजातियों की दुर्दशा और धर्म परिवर्तन का हिन्दू समाज पर दुष्प्रभाव समझ रहे थे। ये समाज सुधारक लोग हिन्दू समाज की इस दशा से चिंतित थे और इन कठिन परिस्थितियों

में भी सीमित संसाधनों से इन उपजातियों की आर्थिक दशा सुधारने और धर्म परिवर्तन रोकने में जी जान से लगे हुए थे।

राजनीतिक त्रासदी

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उपजातियों के कुछ संपन्न और शिक्षित लोग अंग्रेजी प्रशासन से जुड़ गये थे। वे अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था में अंग्रेजी भाषा और अन्य विषयों की शिक्षा पाने लगे थे। यूरोप में जाकर वहां की आधुनिक राज्य व्यवस्था, प्रशासन व्यवस्था और विज्ञान की शिक्षा का भी गहन अध्ययन किया और बीसवीं सदी की आधुनिक सभ्यता के ज्ञान में प्रवीण हुए।

इन लोगों ने अंग्रेजों की कूटनीतिक राज्य-प्रशासन व्यवस्था को समझा। यह संज्ञान में आया कि अंग्रेज लोग भारतीय जाति-उपजाति परम्परा और हिन्दू धर्म की छुआ-छूत विकृति का दुरूपयोग कर रहे हैं। यहाँ की शिक्षा और उद्योग व्यवस्था को अपने हितों के अनुसार बदल कर भारतीय शिक्षा-व्यवस्था,अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति को नष्ट कर रहे हैं। ईसाई धर्म के प्रचार और प्रसार में लगे हुए हैं। इस सोची समझी चाल में भारतीय समाज निरंतर विघटित और शक्तिहीन हो रहा है।

इन शिक्षित और संपन्न लोगों ने अंग्रेजों की इस नियत और नीति का अनेक स्तरों पर विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। विश्वकर्मा और गन्धर्व संतानें इस काल खंड तक अर्थ-व्यवस्था और शिक्षा में बहुत पीछे रह गयीं थीं। इसलिए इनकी प्रत्यक्ष भागेदारी इस संघर्ष में अपेक्षाकृत कम प्रतीत होती थी। पर हिन्दू समाज की रीढ़ बनी यह संतानें अपने सामाजिक कर्त्तव्य निष्ठापूर्वक निर्वाह कर रहीं थीं, आन्दोलन करते नेताओं का साथ देकर अंग्रेजों का पुरजोर विरोध का रहीं थीं।

सम्पूर्ण हिन्दू समाज अपने को ईश्वर की संतान मानता है, सभी के गोत्र ऋषियों, मुनियों, देवी-देवताओं और राजाओं से हैं और इस आधार पर सभी हरिजन हैं, फिर कुछ उपजातियों को ही 'हरिजन' की संज्ञा क्यों दी गई? इन उपजातियों की हिन्दू समाज की अन्य उपजातियों से अलग पहचान क्यों बनाई गई? क्या यह नामकरण इन उपजातियों से पूछ कर किया गया? क्या किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी राजनीतिक दल विशेष ने अपने व्यक्तिगत अथवा राजनितिक लाभ के लिये किया? जो भी हो यह अलगाववादी नामकरण इन उपजातियों की हीनता का सूचक बन गया जो उनके प्रति सरासर अन्याय था। अंततः सन् 1947 में अंग्रेजी राज्य से स्वतंत्रता मिली पर हिन्दू समाज धर्म, जाति और उपजाति की विषमताओं से और भी अधिक ग्रसित हो गया ।

स्वतंत्रता के पश्चात् जाति के लिये अनुसूचित जाति और जनजाति और धर्म के लिये अल्पसंख्यक शब्द जोड़कर संविधान को जाति और धर्म से निरपेक्ष नहीं रखा गया। अनुसूचति जाति की संज्ञा अधिकांशतः शिल्पकार और कलाकार समाज की उपजातियों को दे दी गयी। उन्हें एक अलग जाति का दर्जा दे दिया गया जो उनके गुण और कर्म के आधार पर नहीं बल्कि एक संस्थागत राजनीतिक आधार पर किया गया।

यहाँ तक कि सरकारी दस्तावेजों में भी इन उपजातियों के नाम अंकित कर इन पर अनुसूचित जाति की मुहर लगा दी गयी।

अनुसूचति जाति के नाम पर विशेष सरकारी आर्थिक और प्रशासनिक सहायता देकर इन उपजातियों की अलग पहचान बना दी गयी। हिन्दू समाज की सभी अन्य उपजातियों में भी बहुत लोग आर्थिक और शिक्षा की दृष्टि से बहुत पीछे थे उनकी उपेक्षा की गयी और इस तरह जाति आधारित राजनीति का जन्म हो गया। हिन्दू समाज की जाति -उपजाति की विषमताओं में एक और राजनीतिक द्वेष का बीज बो दिया गया।

यही बात जनजाति के लोगों के लिये हुई। यह लोग सुदूर पहाड़ी और जंगल के क्षेत्रों में रहने वाले थे। अधिकांशतः पशुपालन और खेती करते थे। गुण और कर्म से वैश्य उपजातियों के लोग थे पर इन्हें जनजाति की संज्ञा और विशेष सरकारी आर्थिक और प्रशासनिक सहायता देकर उन्हें उसी क्षेत्र की हिन्दू समाज की अन्य उपजातियों से अलग कर उपरोक्त की तरह राजनीतिक द्वेष के बीज बो दिए गये ।

अनेक विषमताओं के होते हुए भी हिन्दू समाज की जाति-उपजाति अक्षुण्ण समरसता को मुस्लिम और अंग्रेज शासक पुरजोर ताकत के साथ भी हिला नहीं सके थे। स्वतन्त्र भारत में एक राजनीतिक निर्णय ने इस समरसता की जड़ें हिला दी। एक नए जाति-उपजाति द्वेषपूर्ण विघटन का बीजारोपण कर दिया। संभवतः संविधान के रचनाकारों ने हिन्दू समाज की इस जटिलता को इस तरह सोचा भी न हो।

स्वतंत्रता के लगभग तीन दशकों बाद राजनीतिज्ञों की पीढ़ी बदल गयी। स्वतंत्रता प्राप्त करते समय जो देश-भक्ति की भावना थी वह राज्य करने की भावना में परिणत हो गयी। प्रजातंत्र व्यवस्था में राज्य करने के लिये अधिक से अधिक मतदान (वोट) पाना राजनीतिज्ञों की विवशता हो गयी। इसके लिये धन और बल का प्रयोग और यहाँ तक कि भारतीय समाज को धर्म और जाति-उपजाति के नाम पर विभाजित करना भी इन राजनेताओं को सत्ता सुख पाने के लिये आवश्यक हो गया। अब राजनीति एक लाभकारी व्यवसाय हो गया।

आर्थिक रूप से कमजोर कृषि, गौपालन, मत्स्यपालन आदि व्यवसायों से जुड़ी कुछ वैश्य उपजातियों को पिछड़ा वर्ग और अति पिछड़ा वर्ग की संज्ञा दी गई। उनमे हीनभावना उत्पन्न की गई, सरकारी अनुदान से कृतज्ञ किया गया और मुफ्त में कुछ पाने की लालसा दे उन्हें व्यवसायी कर्मठता से विमुख कर दिया गया। इन सत्ताधारियों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि अपनी व्यवसाय कला में पिछड़ गये इन लोगों को आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकों से प्रशिक्षित किया जाय जिससे उनके उत्पादनों की गुणवत्ता अच्छी हो। उन्हें अच्छा मूल्य मिले और उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो।

यह लोग भलीभांति जानते थे कि यदि यह लोग प्रशिक्षित हो गये, अर्थ-व्यवस्था अच्छी हो गयी और जीविका के लिये राजतन्त्र पर निर्भर नहीं रहे तो किसी राजनीतिक तंत्र के वोट बैंक न बनकर अपनी इच्छा से वोट देंगे। संभव है यह लोग सरकारी शोषण नीतियों का विरोध भी करें और तब लाभकारी राजनीतिक

व्यवसाय करना कठिन हो जायेगा, इसलिये निरंतर यही प्रयास रहा की इन उपजातियों को पिछड़ा और अतिपिछड़ा सम्बोधित कर उन्हें सरकारी अनुदान पर निर्भर रखा जाय। यह समाज और देश का दुर्भाग्य रहा कि यह मेहनतकश कृषक, गोपालक, मत्स्यपालक आदि उपजातियां अपनी मूल उद्यम से दूर हो गयीं, आर्थिक रूप से कमजोर हो गयीं, केवल वोट बैंक बन कर रह गयीं।

आज आवश्यकता है कि इन उपजातियों को पिछड़ा और अतिपिछड़ा जैसे अपमानजनक संबोधनों से मुक्त किया जाय। आख़िरकार इन सत्ताधारियों ने यह अधिकार कैसे प्राप्त किया कि इन हिन्दू उपजातियों को ऐसे हीनता सूचक संबोधनों से संबोधित किया जाय। हिन्दू जाति-उपजाति व्यवस्था में किसी भी मानव समुदाय के लिये ऐसे संबोधनों का कभी भी कोई स्थान नहीं था। इस राजनीतिक कुविचार को शीघ्र ही विस्थापित कर उन्हें कृषक समाज, गोपालक समाज, मत्स्यपालक आदि सम्माननीय नामों से आदर पूर्वक संबोधित किया जाय। राजकोष की सहायता पर भारतीय समाज की सभी जातियों-उपजातियों का समान रूप से मूल अधिकार है, वह आवश्यकता अनुसार इन उपजातियों को भी सम्मान पूर्वक प्रदान किया जाय। साथ ही उनके पारंपरिक उद्योगों को विकसित कर उनकी शिक्षा और अर्थ-व्यवस्था को और अधिक उन्नत किया जाय। हिन्दू समाज की विघटित होती समरसता की आज यह महती आवश्यकता है।

अपेक्षा यह थी कि स्वतंत्र भारत के औद्योगीकरण के युग में इन उद्यमी समाज के लोगों को इनकी शिल्प और कृत्य कलाओं की आधुनिक शिक्षा मिलेगी। इनकी कुशाग्रता में और अधिक विकास होगा। शिल्प और कृत्य कलाओं को वैज्ञानिक आधार मिलेगा। इन कलाओं में और अधिक सूक्ष्मता और निपुणता आएगी, जिससे बाज़ार में इनके उत्पादों का अधिक मूल्य मिलेगा और ये भारत की अर्थव्यवस्था के रीढ़ बन सकेंगे, तब भारत एक बार पुनः सोने की चिड़िया बन सकेगा। पर राजनीतिक व्यापार के चलते ऐसा नहीं हो पाया।

सामाजिक परम्पराओं और विषम ऐतिहासिक परिस्थितियों में भी इन उपजातियों ने अपनी शिल्प और कृत्य कलाओं को नहीं छोड़ा और हिन्दू समाज की समरसता को अक्षुण्ण बनाये रखा।

आज आवश्यकता है उद्यमी समाज के लोगों को दलित, महादलित, अनुसूचित और पिछड़ा आदि अपमानजनक संबोधनों से मुक्त किया जाय। उन्हें सम्मानपूर्वक संबोधित किया जाय। यह राष्ट्र के अर्थ-तंत्र के निर्माता हैं। उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार के लिये उनके परम्परागत उद्योगों को बढ़ाया जाये, जिससे वह स्व-विकसित उद्योगों के द्वारा अपनी आर्थिक और शैक्षिणक स्थिति स्वयं के प्रयत्नों से उन्नत कर सकें। आत्मग्लानि की भावना को त्यागकर आत्मसम्मान और आत्मविश्वास के साथ हिन्दू समाज की अन्य उपजातियों के साथ सहयोग और समरसता की भावना से कंधे से कन्धा मिलाकर आगे बढ़ें और समरस एवं सुदृढ़ हिन्दू समाज की नींव बनें। तभी आत्मनिर्भर भारत का निर्माण हो सकेगा।

महामना का आत्मनिर्भर भारत

डॉ. दीनबंधु पाण्डेय[1]

अखण्ड भारत के वर्ष 1857 ई. के स्वातन्त्र्य-संग्राम के चार वर्ष बाद मालवीय जी का जन्म प्रयागराज की धरती पर हुआ था। उनके बाल्यकाल के समय में भारतमाता के लिये प्रतारणा के दिन थे। आचार्य सीताराम चतुर्वेदीजी ने मालवीयजी से सम्बन्धित एक लेख 'स्वदेश की पुकार पर' में यह बताया है कि 'मुगलों का विशाल वृक्ष जहाँ से उखड़ा था, वहाँ एक विलायती पौधा लगा दिया गया जो हिन्दुस्थानी कारीगरों के खून से ... सींचा जा रहा था ... हिन्दुस्थानियों में खून रह नहीं गया था ... घड़ा भर चुका था बस फूटने की देर थी ... 10 मई 1857 को उसमें से ज्वालामुखी फूट पड़ा ... सब स्वाहा हो गया ... ज्वालामुखी शान्त हुआ ... पर अभी गर्मी बाकी थी । लोग स्वतन्त्र भारत का स्वप्न अभी देख रहे थे । ... (सन् 1861, 1881 एवं 1885 में कई संस्थाएँ बनीं) ... सन् 1885 में ही ए.ओ. ह्यूम ने 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' संस्था बनाई। ... 28 दिसम्बर 1886 के कलकत्ता अधिवेशन में मालवीय जी सम्मिलित हुये थे'[2]। सन् 1905 के काशी के अधिवेशन में 'विदेशी माल के बहिष्कार' का निर्णय हुआ।

हिन्दुस्तानी दस्तकारी और व्यापार के अँगूठे ईस्ट इण्डिया कम्पनी काट चुकी थी। शिल्प की समाप्ति से बेरोजगारी और दरिद्रता की बाढ़ थी। भरण-पोषण का सारा भार कृषि संसाधनों पर था। कम्पनी की शोषण परक नीतियों के कारण सन् 1769 से 1772 के अकाल में एक करोड़ लोग मरे थे।

महामना मालवीय जी का राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिए उद्योगों के विकास का विचार भारतीय परम्परा और शास्त्र-सम्मत दृष्टिकोण का परिभवन था। तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीय जन-समुदाय के पास अंग्रेजों की कूटनीतिक चालों के कारण उद्यम तो था परन्तु उद्योग अति-सीमित हो गए थे।

सन् 1877 के पेरिस में होने वाली एक प्रदर्शनी के लिए भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों से उस क्षेत्र के उत्पादों का संग्रह कराया गया था। ऐसा ही कार्य सन् 1880 में मेलबोर्न की प्रदर्शनी के लिए और पुनः तीसरी बार सन् 1883 में एम्सटर्डम की प्रदर्शनी के लिए उत्पादों का संग्रह किया गया था। इन्हीं दिनों

1 सदस्य, भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद एवं पूर्व आचार्य व विभागाध्यक्ष, कला, इतिहास एवं पर्यटन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

2 महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय, काशी, वि.सं. 1993, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ-129-130

बेल्जियम और इटली से भारतीय व्यावसायिक उत्पादों के नमूने एकत्र करने का प्रतिवेदन आया जिसे अंग्रेजी सरकार के राजस्व एवं कृषि विभाग के सचिव ई.सी. बक ने बाबू त्रैलोक्यनाथ मुखर्जी के सहयोग से पूरा कराया। इस प्रकार भारत के आर्थिक उत्पादों का एक संग्रह तैयार हो गया। सन् 1883-84 में कलकत्ता (कोलकाता) की होने वाली प्रदर्शनी में वैज्ञानिक रीति से विवरणों को तैयार करने के लिए प्रो. ज्यार्ज वाट को लगाया गया जो बंगाल में वनस्पति शास्त्र के शिक्षक थे। आगे चल कर सन् 1886 में लन्दन की प्रदर्शनी के लिए तैयारी के माध्यम से Dictionary of Economic Products of India नामक कोष-ग्रन्थ तैयार हुआ जो एक बृहद् कार्य था और सन् 1885 में छः भागों में प्रकाशित हुआ।

इस औद्योगिक उत्पाद के कोष-ग्रन्थ में न केवल सूची बनाई गई थी बल्कि कार्य पद्धतियों के विभिन्न औद्योगिक प्रविधियों के विवरण भी दिए गए थे। अंग्रेजों ने क्रमशः भारत की इन्हीं औद्योगिक प्रविधियों का ह्रास कराया ।

अंग्रेजों के समय में सन् 1800 से 1900 तक कुल 31 बार अकाल हुआ। 1877-78 का अकाल भयंकर था। एक सरकारी आंकड़े के अनुसार सन् 1854-1900 के बीच कुल 28,825,000 लोगों के प्राणों की आहुति हुई। भारतीय नेतृ-वर्ग ने सन् 1885 से लेकर सन् 1896 तक गुहार लगाया था, उस समय अकाल के कारण कुछ न हुआ।

मालवीय जी ने सन् 1907 में वसन्त पञ्चमी के शुभ अवसर पर 'अभ्युदय' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया जो उनके विचारों की वाहक थी। इस पत्रिका के प्रथम अङ्क (माघ शुक्ल पूर्णिमा, संवत् 1963) में 'अभ्युदय' शब्द की व्याख्या करते हुये 'भ' अक्षर में कल्याणकरी विष्णु के उल्लेख के साथ 'भूति' का सविशेष विवरण देते हुये कहा कि यह शब्द हमको 'भूति' अर्थात् लक्ष्मीजी का स्मरण दिलाता है और कहता है– 'भूत्यै न प्रमदितव्यम्!' कि जिन बातों से तुम्हारे देश की सम्पत्ति बढ़े, उसके विषय में सचेत रहो! मालवीय जी ने प्रार्थना और अभिलाषा की है कि 'हमारे देश का अभ्युदय पृथ्वी के किसी और देश के अभ्युदय से किसी अंश में कम न रहे, वह बढ़ा-चढ़ा रहे'–

मेरे प्यारे मेरे देश!
सफल विश्व के वैभव से भी बढ़कर प्यारे देश !!

मालवीय जी ने अभ्युदय पत्रिका के अपने एक लेख में एक उक्ति के माध्यम से राष्ट्र को चेतावनी दिया था –

बहुकृत्ये निरुद्योगो जागर्तव्ये प्रसुप्तकः।
विश्वस्तः को भयस्थाने हा पुत्रक! विहन्यसे।[3]

गरुड़ पुराण में यह श्लोक निम्नवत प्राप्त होता है –

3 अभ्युदय, फाल्गुन.कृष्ण सप्तमीए संवत् 1963

प्रारब्धये निरुद्योगी जागर्तव्ये प्रसुप्तकः।
विश्वस्तश्च भयस्थाने हा नरः को न हन्यते।।[4]

काम बहुत करना है, तुम कुछ उद्योग नहीं कर रहे हो। जागने का समय है, तुम सोते हो। भय का स्थान है और तुम विश्वास किये बैठे हो कि कुछ भय नहीं है। हा पुत्र! तुम मारे जाते हो।

उन दिनों दूसरे देशों से आने वाली वस्तुओं– कपड़ा, चीनी, लोहा, ताँबा, पीतल, काँच, छतरी, जूते, टोपी एवं औषधि आदि का उल्लेख करते हुये मालवीय जी ने कहा कि ये वस्तुएँ क्या भारतवर्ष में नहीं बन सकतीं? पर भारतवासी तो सोते हैं, जागें तो बनावें। इसी पत्रिका के एक दूसरे अंश में 'हमारे ऊपर उठाने के उपाय' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है कि 'एक-दो वर्ष पहले तक हमको मालूम न था कि भारतवर्ष में बिजली की कलें (यन्त्र), कांच के बर्तन, फोनोग्राफ की चूड़ियाँ, टेलिस्कोप बन सकेंगे, किन्तु अब ये सब चीजें देखने में आने लगी हैं और नित्य नई चीजें प्रगट हो रही हैं। कारण यह है कि लोगों को स्वदेशी चीजों के लेने की इच्छा बढ़ी और उसकी आवश्यकता पड़ी; और जब किसी चीज की आवश्यकता पड़ती है तो उनको उत्पन्न करने की इच्छा और शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है।'

पौरुष के साथ कार्य में संलग्नता होनी चाहिए, उन्होंने मनुस्मृति से एक श्लोक का उद्धरण दिया कि,

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आ मृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम्।।[5]

अर्थात् धैर्य को धारण किये हुये समृद्धि, सुख और सम्पत्ति के लिये प्रयत्न करते ही रहना चाहिये। मृत्यु-पर्यन्त यत्न करते जाना चाहिए और उसे दुर्लभ नहीं समझना चाहिए।

इस प्रकार जब हम दृढ़ विश्वास के साथ अच्छे कामों में उद्योग करेंगे तब फिर हमारे दिन फिरेंगे और हमारे देश का वैभव और गौरव बढ़ेगा।

देश के बान्धवों में प्राण, चेतना और बल को बढ़ाने वाला देश प्रेम का स्वदेश-भाव रहे तो वह पवित्र पवन का संचार करके हमारे हृदयों में आशा, मनों में उत्साह तथा नेत्रों में नई ज्योति भरेगा। स्वदेशी वस्तु-प्रचार से कारखाने बढ़ेंगे, स्वदेशी भाव का समागम सूखे वृक्षों में फूटते हुये नए अङ्कुर और नव पल्लवों के समान हमारे हृदयों को आशा और आनन्द से भरेंगे।

स्वदेशी भाव की चर्चा मालवीय जी ने बार-बार किया है। इसके विकास की कामना किया है कि वह नगर-नगर गाँव-गाँव में फैले। मालवीय जी देश-प्रेम को गोपाल कृष्ण गोखले के शब्दों में गहरा, गाढ़ा, उत्कट, अन्य सब भावों को दबा देने वाला मानते थे।

4 गरुड़ पुराण-2/49/31

5 मनुस्मृति-4/137, व विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3/233/176

अपने लेख 'हमारी दशा और हमारा मुख्य कर्तव्य'[6] में एक दूसरा ही गुण-सूत्र बताया है कि किसी मनुष्य अथवा जाति की तब तक उन्नति नहीं हो सकती, जब तक वह अपनी वर्त्तमान दशा से असन्तुष्ट हो कर उसे सुधारने का प्रयत्न न करे। इन दोनों बिन्दुओं को मालवीयजी ने उन्नति के लिये मूल मन्त्र कहा है।

स्वदेशी-आन्दोलन से देश की आर्थिक दशा सुधरती है। इसके लिये देशी वस्तुओं के व्यापार की वृद्धि आवश्यक है। देश के निवासियों के लिये आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन हेतु उद्योगों को बढ़ावा मिलना चाहिये। स्वदेशी-आन्दोलन की सफलता प्रजा को अन्न-वस्त्र और सबको सुख तथा सम्पत्ति में वृद्धि प्रदान करती है।

क्रय और विक्रय सम्बन्धी गुण-सूत्र की ओर दृष्टि खींचते हुये मालवीय जी ने इस बात पर जोर दिया है कि यदि देशी चीज सदा मोटी बनती रही और महँगी बिकती रही तो बाज़ार में नहीं टिक सकेगी और जो सस्ती एवं सुन्दर मिलेगी उसे ही लोग खरीदेंगे, इसलिये ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे न केवल उत्पादन बढ़े बल्कि उनके रूप में सुन्दरता के साथ-साथ सस्ती भी हों। तदर्थ बड़े-बड़े कारखाने होने चाहियें। इन सबकी सफलता के लिए शिक्षित, प्रवीण, देश-हितैषी एवं परिश्रमी लोगों की जरूरत पूरी करनी पड़ेगी।

धर्म-प्रवण भारत देश में सहस्त्रों प्राणियों को अन्न और वस्त्र देना धर्म तथा सुख का मूल है जैसा कि स्कन्दपुराण एवं अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्य है --

अपहृत्यार्त्तिमार्त्ताणां सुखं यदुपजायते॥
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नार्हति षोडशीम्॥[7]

यह कार्य कठिन है, बहुत परिश्रम और कष्ट उठाने की आवश्यकता है। दृढ़ निश्चय और धर्म-बुद्धि से सिद्धि होगी।[8]

उस समय भारतीयों के लिए उद्योगों के बढ़ावे के हेतु तकनीकी शिक्षा और भारतीय उद्योगों की निजी पारम्परिक पद्धतियों के विकास की माँग की गयी जो निष्फल रही। सन् 1915 में कुछ आशा की किरण दिखी। तकनीकी, औद्योगिक, व्यवसायिक एवं कृषि-विज्ञान की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ तथा बैंकिंग और वैज्ञानिक तथा रासायनिक शोध की ओर भी दृष्टि गयी।

सन् 1916 में जब अंग्रेजी सरकार द्वारा भारत के राष्ट्रवादी नेतृ-वर्ग को लेकर विकास हेतु कार्यवाही के लिए सर टी. एच. हॉलैण्ड की अध्यक्षता में भारतीय औद्योगिक कमीशन (Indian Iindustrial Commission) बनाया गया उसमें मालवीय जी भी सदस्य थे। महामना मालवीय ने भारत के औद्योगिक विकास के लिए विधिवत और बहुआयामी सुझाव आयोग को प्रस्तुत किये, जिन्हें आयोग के सन् 1918 में प्रकाशित

6 अभ्युदय, ज्येष्ठ कृष्ण नवमीए संवत् 1964

7 स्कन्दपुराण-7/9/22

8 अभ्युदय, श्रावण कृष्ण द्वादशी, संवत् 1994

रिपोर्ट के पृष्ठ 292 से 355 में देखा जा सकता है।

मालवीय जी ने अपने उपखण्ड 2, 3 और 5 में भारत के उन्नत प्राचीन गौरव का विवरण देते हुए कि हमारा देश औद्योगिक तथा कृषि दोनों ही क्षेत्रों में समुन्नत था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से आज तक कैसे और किन हालातों में केवल एक कृषि क्षेत्र वाला देश बना डाला गया और कच्चे माल को अन्धाधुन्ध विदेशों को भेजे जाने का परिणाम न केवल गरीबी का बोलबाला हुआ बल्कि परिणामस्वरूप भारत को अनेकशः अकाल और भुखमरी का दंश झेलना पड़ा।

देश के हित के लिये मालवीय जी ने सन् 1916 के भारतीय औद्योगिक कमीशन के सदस्य के रूप में अपनी रिपोर्ट में प्रमुख रूप से निम्नवत सुझाव दिया था–

1- व्यवसाय की उन्नति के लिये आर्थिक स्वतन्त्रता

2- आर्थिक सहायता

3- आर्थिक नीति के अनुकूल अन्यान्य उपाय

4- व्यावसायिक एवं शिल्पगत प्रौद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध

समाहार करते हुए मालवीयजी ने उद्योगों की उन्नति में भारत के लाभ का विशेष ध्यान रखा कि भारत के स्थानीय सामग्रियों का उपयोग किया जाये एवं उद्योगों के संस्थान बनें तथा उद्योगों के जो भी फायदे हों वह भारत देश में ही रहे जिससे भारत समृद्ध और शक्तिशाली हो सके।

मालवीय जी ने 'भूतले दुर्व्यवस्थं च व्याकुलं मानवं कुलम्' का उल्लेख काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की संरचना के समय स्थापना ताम्रपत्र के प्रथम श्लोक में करते हुये भारत की समृद्ध हेतु उपर्युक्त समस्त बिन्दुओं का समावेश अपने क्रिया-कलापों में किया और विभिन्न उपयोगी उत्पादों के लिये विश्वविद्यालय में कार्यशालायें भी स्थापित की थीं।

प्राचीन भारत में कराधान

डॉ. चन्द्रमौलि त्रिपाठी[1]

जिस प्रकार मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी राज्य के लिए भी यह नितांत आवश्यक होता है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का उचित प्रबन्ध करे। इस प्रबंधन को ही व्यवस्थित रूप में राज्य का अर्थशास्त्र कहा जाता है। प्राचीन भारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थओं की अनेकशः चर्चा की गई है। धर्म प्रधान होने के बाद भी भारतीय चिंतन में धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष के संतुलन पर पर्याप्त बल दिया गया है। आचार्य चाणक्य ने अर्थ की महत्ता को परिभाषित करते हुए धर्म और काम से उसे प्रधान माना है। धर्म और काम अर्थ पर ही निर्भर होते हैं। शुक्रनीति के अनुसार जिस कार्य में धर्म और अर्थ का सामंजस्य न हो वह व्यर्थ है। व्यक्ति अर्थ का दास है परंतु अर्थ किसी का दास नहीं होता है। इसलिए अर्थोपार्जन हेतु मनुष्य को सतत उद्यत रहना चाहिए क्योंकि अर्थ से धर्म,काम और मोक्ष तीनों को प्राप्त किया जा सकता है।

धर्मार्थौ यत्र न स्यात् तद्वाकामं निरर्थकम्।
अर्थस्य पुरुषो दासः दसस्त्वर्थो न केनचित्।
अर्थाद्धर्मश्च च कामश्च मोक्षश्चापि भवेत् नृणां।[2]

जैसे 'प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जिता धनं' की शास्त्रोक्ति मनुष्य के जीवन में अर्थ की महत्ता को इंगित करती है, ठीक उसी इसी प्रकार राज-व्यवस्था के संचालन हेतु भी अर्थ अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। जिस राज्य का अर्थ-तंत्र जितना शक्तिशाली होगा, वह राज्य उतना ही शक्तिशाली होगा। भारतीय संदर्भ में यदि राज्यों के संचालन हेतु वित्तोपाय को समझना हो तो चाणक्य प्रणीत अर्थशास्त्र के अतिरिक्त जिन ग्रंथों को प्रामाणिक अध्ययन के लिए देखा जाना चाहिए उनमें मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, शुक्रनीति, विदुर नीति, महाभारत आदि प्रमुख हैं।

भारतीय सभ्यता को विश्व की प्राचीनतम सभ्यता होने का गौरव प्राप्त है। इससे यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि यहाँ आर्थिक चिंतन की व्यवस्थित दीर्घ परंपरा भी विद्यमान रही होगी। इसी को आधार मानकर

1 शिक्षक, केंद्रीय विद्यालय संगठन, 84बी/2सी प्रयागराज

2 शुक्रनीति श्लोक संख्या - 4/82,83,84

प्रसिद्ध आङ्गूल आर्थिक इतिहासकार अंगस मेडिसन ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर अपने शोधग्रंथ में लिखा कि पहली शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक, यदि बीच के कुछ एक वर्षों को छोड़ दिया जाए तो भारत की अर्थव्यवस्था विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था रही थी। अनुमानतः विश्व की एक तिहाई से एक चौथाई तक की अर्थव्यवस्था भारत के हिस्से थी।

सकल घरेलू उत्पाद 1990 ई. के अन्तर्राष्ट्रिय डॉलर मुद्रा के स्वरूप में[3]

वर्ष	1000 ई.	1500 ई.	1600 ई.	1700 ई.
भारत	33750	60500	74250	90750
चीन	26550	61800	96000	82800
पश्चिमी यूरोप	10165	44345	65955	83395
विश्व	116790	247116	329417	371369

प्राचीन भारतीय सभ्यता के आर्थिक चिंतन का वैशिष्ट्य यह रहा कि उन्नीसवीं सदी तक उसका प्रभुत्व विश्व की अर्थव्यवस्था में बना रहा। वैश्विक अर्थशास्त्र के जिन सिद्धांतों पर आज विश्व की अर्थव्यवस्थाएं चल रही हैं, उनकी वैज्ञानिकता और व्यावहारिकता दोनों तब प्रश्नों के घेरे में आ जाती हैं, जब हम मानव की मूलभूत आवश्यकताओं से संबंधित समस्याओं का निदान इनके द्वारा नहीं कर पाते हैं। आज भी एकविश्व की जनसंख्या में कोटिशः जन रोटी, कपड़ा और मकान की चिंता से मुक्त नहीं हो सके हैं तथा वृत्तिक आय की निरंतरता एक गंभीर समस्या बन कर उभर रही है। ऐसे परिवेश में जब हम भारत के पारंपरिक अर्थशास्त्र की और दृष्टिपात करते हैं तो उसे नीतिशास्त्र से युक्त पाते हैं, जहां राज्य के नैतिक मानदंड इतने उच्च थे कि सामान्य जन को जीवन-यापन में किसी प्रकार का कष्ट, राजा के लिए पाप का कारण निश्चित कर दिया गया था। आज का अर्थशास्त्र, अनीति शास्त्र पर टिक गया है। लाभ और लोभ के कारण राज्य और व्यक्ति के संबंध ही नहीं सामाजिक संबंध भी बुरी तरह प्रभावित हो रहा है। ऐसे में भारत की परंपरागत आर्थिक चिन्तन को ध्यान में रखकर मनुस्मृतिकार, शुक्रनीतिकार के द्वारा आर्थिक चिंतन पर ध्यान देना श्रेयस्कर होगा जिससे ज्ञात हो सके कि वे कौन से अर्थोपाय अपनाए जाने चाहिए जिससे राज्य और जन की उन्नति हो।

राज्य प्रशासन की व्यवस्था के सन्दर्भ में मनुस्मृति के सातवें अध्याय में विस्तृत विवेचन मिलता है तो शुक्रनीति के चौथे कोश संज्ञक अध्याय में इसे वर्णित किया गया है। राजा कोश का नियंत्रण करता है यह बात दोनों ग्रंथों में बहुधा उक्त है। जैसे आमात्य के आधीन दण्ड (हाथी, घुड़सवार, रथ, पदाति सेना),

3 विश्व का अर्थशास्त्र - प्रोफेसर अंगस मेडिसन

दण्ड के आधीन विनयकार्य, दूत के आधीन संधि और विग्रह होते हैं वैसे ही राजा के अधिकार में कोश और राष्ट्र की बात कही गई है। राज्य के सप्तांग में कोश का प्रमुख स्थान होता है। इसे राज्य का मुख कहा गया है।

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोश राष्ट्रे च दूते सन्धि विपर्ययौ।।[4]

इस कोश की सहायता से राजा राष्ट्र पर आने वाली विपत्तियों को टाल सकता है। जब कभी शत्रु से समझौता करना हो तो इसका प्रयोग राजा के द्वारा किया जा सकता है। पर्याप्त कोश रहने पर राजा सैनिक आदि कर्मचारियों के वेतन समयानुसार प्रदान कर उन्हें राज्य के प्रति निष्ठावान बनाए रखने का प्रयत्न करता है। जब कभी अवसर पड़े तो इस कोश का प्रयोग कर वह स्त्रियों की रक्षा कर सकता है तथा स्वयं इन दोनों से रक्षित रहने में सफल होता है।

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि।।[5]

यहाँ राजा के द्वारा स्वयं की रक्षा के लिए धन का प्रयोग उचित माना गया है, परंतु अपनी रक्षा हेतु स्त्रियों को भी प्रयोग करना उचित नहीं ठहराया जा सकता है। ऐसा ही एक प्रसंग गुप्तवंशीय शासक चंद्रगुप्त के काल का आता है जब वह महारानी ध्रुवस्वामिनी को राज्य की रक्षा के बदले शत्रु पक्ष को देने की योजना को असफल बना देता है।

यदि राजा कर लेकर भी प्रजा की रक्षा नहीं करता है तो वह आधे पापा का भागी होता है तथा यदि अन्यायपूर्वक कर लेता है तो अपने कुल सहित नष्ट हो जाता है। राजा के कर्तव्य में यह बात निश्चित कर दी गई थी कि प्रजा का रक्षण उसकी सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए। कर का संग्रह न्यायपूर्वक तथा तर्कसंगत हो इसकी व्यवस्था की गई है।

अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित् किल्बिषम् प्रजाः।
तस्माद् तु नृपतेः अर्धं यस्माद् गृहाद्यसौ करः।।
अन्यायेन नृपो राष्ट्रात् स्वकोषं यो अभिवर्धयेत्।
सो अचिरात विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः।।[6]

राजा अथवा राज्य की आय के साधन के रूप प्रजा पर लगाए गए कर, कृषि कर, दंड के रूप में प्राप्त धन, व्यापारियों पर लगाए गए कर मुख्य हैं। विजित राज्य से प्राप्त सोना, चांदी तथा भूमि भी राजा की

4 मनुस्मृति श्लोक संख्या - 7/65

5 मनुस्मृति श्लोक संख्या -7/213

6 याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्यायः श्लोक संख्या - 337, 340

होती है। युद्ध में विजय प्राप्त कर राजा द्वारा प्राप्त सामग्रियों का सैनिकों में वितरण कर देना उनके उत्साह को बढ़ाने वाला होता है। राजा को चाहिए कि वह अप्राप्त धन को पाने की इच्छा करे, प्राप्त धन की रक्षा करे, रक्षित को बढ़ावे और बढ़ गए धन को योग्यतानुसार वितरित करे। धन के वितरण में योग्यता का निर्धारण व्यवस्था के लिए अच्छा होता है, अन्यथा की स्थिति में अयोग्य को योग्य से ज्यादा धन मिलने पर असंतोष तथा विद्रोह की आशंका बन जाती है।

राज्ञश्च दद्धुयुधारमित्यमेषा वैदिकी श्रुतिः।
राजा च सर्वयोधेभ्योदातव्यमपृथगजितं।।
अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।।[7]

अर्थ की प्राप्ति के लिये राजा को बगुले की भांति चिंतन करना चाहिए। जैसे बगुला चञ्चल स्वभाव का होने पर भी मछली पकड़ने के लिये तन्मय तथा एकाग्रचित्त होता है उसी प्रकार राजा को अर्थप्राप्ति के उपाय सोचने चाहिए क्योंकि बिना विचार के लिये गए निर्णय अनिष्टकर होते हैं। एक बार सुचिंतित निर्णय लेने के बाद सिंह के समान पराक्रम करना चाहिए। जिस लक्ष्य को कर संग्रह हेतु निर्धारित किया गया उसे प्राप्त करने में कोई बाधा न आए इसका प्रबंध भी करना चाहिए। कर संग्रह में कई बार लक्ष्य के अनुरूप संग्रह न हो पाना न केवल राज्य की भावी नीतियों के कार्यान्वयन को प्रभावित करता है अपितु राज्य के लिए अपने नियमित व्ययों के प्रबंधन में भी अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है।

बकवत्च्चिन्तयेतर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत।[8]

प्रजा पर कर के विषय में स्मृतिकार का दृष्टिकोण अत्यंत ही सूक्ष्म और स्पष्ट है। उनका कहना है कि जिस प्रकार जोक, बछड़ा और भौरा धीरे-धीरे अपने खाद्य पदार्थ को ग्रहण करते रहते हैं, उसी प्रकार राजा को भी थोड़ा-थोड़ा कर प्रजा से लेना चाहिए। यहां एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि इस दृष्टांत में जोंक, भंवरा और बछड़ा जिससे अपना भोज्य पदार्थ ग्रहण करते हैं, उसको पता भी नहीं चलता और उनका कार्य भी हो जाता है। कर संग्रह में भी यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि प्रजा से कर लिया जाए तो उतना ही लिया जाए जिससे उसे कष्ट न हो, जिसे देने में वह सक्षम हो। आधुनिक कर प्रणाली में किए गए उपबन्ध न तो इस प्रकार मानवीय संवेदना से युक्त होते है न ही करदाता के पक्ष में युक्ति युक्त। जिस प्रकार गुरु शिष्य को उत्तम विद्या अध्ययन कराता है और उसके हितों को भी ध्यान में रखता है, जिस प्रकार भाई पिता के धन में से शास्त्र के अनुसार अपने भाग को ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजा का हित जानकर शास्त्र के अनुसार ही कर का ग्रहण करे। राजा के द्वारा अनीतिपूर्वक किया गया कराधान न केवल

7 मनुस्मृति श्लोक संख्या - 7/97-99
8 मनुस्मृति श्लोक संख्या -7/106

प्रजा को रुष्ट करता है अपितु राज्य के लिए भी अहितकारी होता है।

यथाल्पाल्पमदंत्याद्य वार्योकोवत्सषत्पदाः।
तथाल्पाल्पो गृहीतव्यो राष्ट्राद् राज्ञाब्दिकः करः।।[9]
हितोपदेष्टाशिष्यस्य सुविद्याध्यापको गुरुः।
स्वभागोद्धारकृद्धातायथाशास्त्रं पितुर्धनात्।।[10]

राजा किसी भी प्रकार धन का संचय करे परंतु उस धन से देश, सेना की रक्षा और यज्ञ आदि कर्म करे। अपात्र (वह धन जो अन्यायपूर्वक स्त्री पुत्रादि के भोग हेतु अर्जित किया हो) का धन राजा द्वारा हरण कर लिया जाना चाहिए। अपात्र द्वारा अर्जित धन का सर्वस्व कर के रूप में लेने की प्रक्रिया आधुनिक समय में भी कई राज्यों द्वारा अपनाई जाती है। यदि कोई भ्रष्टाचार द्वारा अनीतिपूर्वक धन अर्जित करता है तो उसका पूरा धन राज्य छीन लेता है। इसे शासक द्वारा अपने अधिकारियों पर नियंत्रण के उपाय के रूप में देखा जा सकता है।

येनकेन प्रकारेण धनं सञ्चितुया न्नृपः।
तेन संरक्ष्येद्राष्ट्रं बलं यज्ञादिकाः क्रियाः।।[11]

कोश को बढ़ाने हेतु दण्ड तथा भूमि कर लेना अच्छा है परन्तु देवतीर्थ से राजा कर न ले। युद्ध के समय राजा भूमि कर तथा दण्ड आदि की वृद्धि से कोश को बढ़ा सकता है। आपत्ति काल में राजा ब्याज पर धनिकों से धन ले तथा आपत्ति के निवारणोपरान्त उसे ब्याज सहित वापस कर दे। वैश्य-वृत्ति से कोश में वृद्धि करने वाला राजा मध्यम और माली की वृत्ति से कोषवृद्धि करने वाला उत्तम होता है। आपत्ति काल में अनेक कार्यों के लिए धन की पर्याप्त व्यवस्था का एक उपाय यह हो सकता है कि राजा कर बढ़ा दे, परंतु परिस्थितियों के सामान्य होने पर सामान्य कर लागू कर देना चाहिए।

दण्ड भूभाग शुल्कानां आधिक्यात् कोषवर्धनं।
धनिकेभ्यो भृत्तिं दत्वा स्वपत्तौ तद्धनंहरेत्।
मालाकारस्यवृत्तैव स्वप्रजारक्षणेन च।
करोति सः नृपः श्रेष्ठः मध्यमी वैश्य वृत्तितः।[12]

राज्य को प्राप्त कर के उपयोग की आवश्यकता का वर्णन करते हुए मनु ने लिखा है कि काम में नियुक्त सेवक-सेविकाओं को उनके कार्य के अनुसार वेतन दे। वेतन देने का भी नियम स्पष्ट कर दिया गया है। कनिष्ठ व्यक्ति को प्रतिदिन एक पण, उत्कृष्ट व्यक्ति को छह पण वेतन देना चाहिए तथा प्रतिमाह भोजनार्थ

9 मनुस्मृति श्लोक संख्या - 7/129
10 शुक्रनीति श्लोक संख्या - 1/79
11 शुक्रनीति श्लोक संख्या - 4/17
12 शुक्रनीति श्लोक संख्या - 4/24-33

एक द्रोण धान्य (एक तोले तांबे की मुद्रा पण कही जाती थी तथा एक द्रोण अनाज का परिमाण आज के 38-40 किलोग्राम के बराबर होता था) और वस्त्र दिया जाना चाहिए।

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्य जनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थान कर्मानुरूपतः।।[13]
पणो देयो अवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनं।
षानमासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः।।[14]

कर संग्रह के लिए एक तन्त्र बनाना चाहिए। दो, तीन या पांच गांवों के समूह का एक गुल्म, सौ गांवों का एक प्रधान नियुक्त कर दे। एक गांव का अधिपति तथा दश, बीस, सौ, हजार गांव का स्वामी बनाए। यह व्यवस्था मुख्यतः संरक्षा तथा कर संग्रह के लिए अत्यन्त उपयोगी थी। गांव से कर राजा तक आसानी से पहुंच जाता था।

यहीं पर एक बात और उल्लेखनीय है कि मनु ने इस बात पर आशंका व्यक्त की है कि राजकार्य में नियुक्त अधिकारी भ्रष्टाचार कर सकते हैं, ठगी कर दूसरों का धन ले सकते हैं अतएव ऐसे कार्मिकों का भ्रष्टाचार द्वारा अर्जित धन ले लिया जाना चाहिए।

राज्ञो हि रक्षाधिकृता परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्याभवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिदं प्रजाः ।।
तेषां सर्वस्वं आदाय राजा कुर्यात्प्रवसानम्।।[15]
उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनांकृत्वा विवासयेत्।
सम्मान दान सत्कारैः श्रोत्रियान्वासायेत् सदा।।[16]

व्यापारियों पर कर लगाते समय प्रजा की क्रय शक्ति, व्यापार का लाभांश तथा कोश की आवश्यकता का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। प्रजा की क्रयशक्ति का ध्यान कर निर्धारण में रखना व्यापारियों के प्रति उदार और संवेदनशील प्रवृत्ति को बताता है। किसी से कर लेने के पूर्व जितनी बातें आवश्यक होती हैं उनका ध्यान रखना चाहिए। व्यापारी द्वारा वस्तु के विक्रय पर लाभों की गणना उसके द्वारा वस्तु के खरीदने में किए गए व्यय, मार्ग में लाने-ले जाने पर हुआ खर्च, उसका भोजन पर हुआ व्यय, रक्षा हेतु की गए प्रबंधों पर हुआ व्यय तथा योगक्षेम को देखकर करना चाहिए। पशु एवं सोने का की बिक्री का पचासवां हिस्सा, धान्य का छठवां, आठवां या बारहवां हिस्सा कर के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययं।

13 मनुस्मृति श्लोक संख्या -7/125
14 मनुस्मृति श्लोक संख्या -7/126
15 याज्ञवल्क्य स्मृति, राजधर्म प्रकरण-39, श्लोक संख्या-39
16 मनुस्मृति श्लोक संख्या -7/124-125

योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करः।।
पञ्चाशत् भग आदेयो राजापशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्टो द्वादश एव वा।।[17]

एक बात और विचारणीय है कि आधुनिक कर प्रणाली में जहाँ कृषि कर से मुक्त है वहीं मनु ने कृषि उत्पादों तथा भूमि पर कर का विधान किया है। वन्योपज पर भी कर का विधान किया गया है। वृक्ष, मांस, शहद, घी, गन्ध, औषधि, रस, पुष्प, मूल, फल, पत्ता, शाक, घास, चर्म, बांस, बर्तन, पत्थर से निर्मित वस्तुओं का छठाँ भाग कर के रूप में ग्रहण करना चाहिए। शुक्रनीति में इसको और विस्तार से बताया गया है। क्रय-विक्रय के लाभ से सोलहवां या बीसवां भाग कर के रूप में लेना चाहिए परन्तु मूल्य से कम बेचने पर शुल्क नहीं लेना चाहिए। जिन स्थानों पर बावड़ी, कुआं, तालाब और नदियां अधिक हों, वहां क्रमशः तीसरा, चौथा, आधा, छठाँ भाग शुल्क के रूप में लेना उचित है। सोने तथा चांदी की खान से तीसरा भाग, तांबे से चौथा तथा लोहे से छठाँ भाग शुल्क के रूप में लेना चाहिए। भूमि से तीन, पाँच, सात तथा दशवां भाग उसकी उपज के अनुसार लेना ठीक होता है।

आददीताथ षड्भागं द्रुमांस मधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्प मूल फलस्य च।
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च।।[18]

यद्यपि राज्य की आय के लिये कर का लेना नितांत आवश्यक होता है परन्तु यहीं पर कर से मुक्ति का विधान भी किया गया है। यदि करदाता अत्यंत निर्धन हो तो उसे कर से मुक्त करें और जैसे पिता अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है, वैसे ही राजा को भूख से पीड़ित प्रजा की रक्षा करना चाहिए। अन्धा, मूर्ख, लंगड़ा, अत्यन्त वृद्ध, और अन्न से श्रोत्रिय का पोषण करने वाले भी कर मुक्त हों। कर से छूट का यह प्रावधान मानवीयता से परिपूर्ण है।

म्रियमाणो अप्यादादीत न राजा श्रोत्रियात्दकरः।
संरक्षेतसर्वतश्चैनम् पिता पुत्रमिवौरसम्।[19]

शुक्रनीति में सीमा शुल्क की बात भी कही गई है। देश की सीमा पर, बाजार की सीमा पर और रास्ते में आने जाने पर कर लिया जाना चाहिए। वस्तुओं का शुल्क एक बार ही ग्रहण करना चाहिए। ब्याज लेने वाले से बत्तीसवां भाग कर लिया जाना चाहिए। कृषि योग्य भूमि तथा आवासीय भूमि का कर अलग-अलग

17 मनुस्मृति श्लोक संख्या -7/127-128
18 मनुस्मृति श्लोक संख्या -7/131-132
19 मनुस्मृति श्लोक संख्या -7/133-135

निर्धारित किया जाना चाहिए। बाजार में रहने वालों से बाजार कर तथा सड़क पर चलाने वालों से मार्ग कर निश्चित कर लेना चाहिए। आधुनिक नगर पंचायतों तथा अन्य नगरीय निकायों के लिए कर निर्धारण का इससे पुराना साक्ष्य और क्या हो सकता है। टोल टैक्स के नाम पर संग्रह किए जाने वाले कर का उत्स भी यहीं दिखता है।

तथा च पणिकेभ्यस्तु पण्यभूशुल्कमाहरेत्।
मार्ग संस्कार रक्षायै मार्गेभ्यो हरेत्फलं।।[20]

सामान्य जीवन-यापन करने वाले सामान्य कारीगर, शिल्पकार, मजदूरी करने वाले से प्रत्येक माह में एक-एक कार्य कराए या फिर उसे कोई अन्य कर वसूल न करें। जिन लोगों को व्यापार आदि से ज्यादा लाभ न हो उनसे राजा बेगार भी करा सकता है परंतु इसकी मात्रा का निर्धारण माह में केवल एक कार्य से होना चाहिए। राजा अत्यंत लोभवश अपनी और दूसरों की जड़ न काटे क्योंकि अपनी जड़ को नष्ट करता हुआ राजा प्रजा को पीड़ित करता है। राज्य के कोश को बढ़ाने में ज्यादा कर लेना भी उचित नहीं है। इससे राजा का ही विनाश होता है। वस्तु के मूल्य निर्धारण में आयात-निर्यात, उसमें लगने वाले समय, मूल्य वृद्धि तथा सभी वस्तुओं का समुचित मूल्य निर्धारित कर ही बिक्री कराये। इनके निर्धारित मूल्य का बीसवां भाग कर के रूप में लेना चाहिए। राज्य की आय के अन्य साधनो में इसके अतिरिक्त विभिन्न अपराधों पर दिया जाने वाला अर्थदंड भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन ग्रंथों में कर व्यवस्था का जितना सुव्यवस्थित, उदात्त तथा व्यावहारिक विवेचन किया गया है इससे यह पता चलता है कि आधुनिक विश्व को भारतीय मनीषा ने क्या नहीं दिया। अंत में हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय कर प्रणाली में ऐसा कोई विभाग, वस्तु अथवा पदार्थ नहीं है जिसपर राज्य द्वारा युक्तियुक्त कर लगाने की व्यवस्था हमें न मिले। कर संग्रह जैसे जटिल और जन-आलोचना के विषय पर भलीभांति विचार कर निश्चय करने की प्रशंसनीय प्रणाली यहाँ मिलती है।

20 शुक्रनीति श्लोक संख्या - 4/40

उदारीकरण के दौर में भारतीय सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगः एक मूल्याँकन

डॉ. नवनीत सारस्वत[1]

वर्ष 1991 में भारत (संरक्षणवादी) अर्थनीति से (मुक्त बाजार) वाली अर्थनीति की ओर अग्रसर हुआ। इस परिवर्तन से भारतीय अर्थव्यवस्था में एक नये ढंग से समायोजन हुआ। समायोजन के इस क्रम में आयात-निर्यात पर लगे मात्रात्मक प्रतिबन्धों के साथ ही टैरिफ सम्बन्धी बाधाओं को समाप्त कर दिया गया। इसके साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों या उद्यमों में भी निजी क्षेत्र को प्रवेश करने की अनुमति प्राप्त हुई। ध्यान देने योग्य है कि स्वतन्त्रता के पश्चात सूक्ष्म व लघु उद्योगों को वृहद् उद्योगों एवं वाह्य स्पर्धा से जो संरक्षण प्राप्त था, वह संरक्षण भी सन् 1991 की नवीन आर्थिक नीति से समाप्त हो गया। उदारीकरण, वैश्वीकरण एवं निजीकरण पर केन्द्रित इस नवीन अर्थनीति के लगभग 30 वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। इन 30 वर्षों में भारत की आर्थिक संवृद्धि की दर अधिकांश अवसरों पर उच्च रही है। यह संवृद्धि दर संरक्षणवाद के कालखण्ड की संवृद्धि दर (3-3.5 प्रतिशत) से लगभग दोगुनी रही है। किन्तु, इस तीव्र आर्थिक संवृद्धि दर के बाद भी देश में न तो पर्याप्त रोजगार का सृजन हुआ है और न देश के सभी राज्यों में इस संवृद्धि दर का प्रभाव एक समान है, क्योंकि यह संवृद्धि दर सेवा क्षेत्र पर अधिक केन्द्रित है। वहीं देश के कुल सकल घरेलू उत्पाद में 18 प्रतिशत भाग कृषि का एवं 25 प्रतिशत भाग औद्योगिक क्षेत्र का है। इस औद्योगिक क्षेत्र में भी भारी उद्योगों की भूमिका कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। वहीं ग्रामीण एवं कस्बाई व शहरी क्षेत्रों में विस्तृत सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योग मुक्त प्रतिस्पर्धा में जड़ता के शिकार हैं। आर्थिक सर्वेक्षण 2015-2016 में इन उद्योगों के महत्व को रेखांकित किया गया है। इस सर्वेक्षण के अनुसार 3.6 करोड़ इकाईयाँ देश भर में हैं। इनमें 8.05 करोड़ रोजगार है। 'देश की जीडीपी में 37.5 प्रतिशत योगदान भी इसी प्रकार के उद्योगों का है। इन उद्योगों की महत्ता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि चीन के कुल निर्यात में 60 प्रतिशत हिस्सा लघु व मध्यम उद्योगों का है। चीन में साल 1990 में 1 मिलियन लघु व मध्यम उद्योग थे जो 2004 में बढ़कर 40 मिलियन हो गये। लेकिन, उदारीकरण के बाद बाजार

1 सहायक आचार्य, (इतिहास), राजकीय मॉडल डिग्री कालेज, अरनियाँ (बुलन्दशहर)

संभावनाओं के विस्तार का लाभ भारत के सूक्ष्म, लघु, मध्यम उद्योग उठाने में असमर्थ हैं। इस शोध पत्र में उपर्युक्त संदर्भ में सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगों के महत्व, चुनौतियों एवं अवसरों को स्पष्ट किया गया है।

शोध प्रविधिः

प्रस्तुत शोध आलेख मुख्यतः द्वितीयक स्त्रोतों पर आधारित हैं, जिसके अन्तर्गत विषय से सम्बन्धित पुस्तकों, जर्नल्स, रिपोर्ट्स शोधपत्रों आदि का प्रयोग किया गया है। प्राथमिक स्त्रोत के रूप में शोधार्थी ने फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) काँच उद्योग के क्षेत्र अध्ययन को आलेख में प्रयुक्त किया है।

सूक्ष्म, लघु व मध्यम उद्योग की अवधारणाः

सन् 2006 से पूर्व सूक्ष्म व लघु उद्योगों को औद्योगिक अधिनियम 1951 के अन्तर्गत लघु स्तर उद्योग के रूप में देखा गया। सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यम विकास अधिनियम 2006 के माध्यम से सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यमों को व्यवस्थित रूप से परिभाषित किया गया है। इसमें विनिर्माण एवं सेवा क्षेत्र के लिए अलग-अलग प्राथमिकताएँ निर्धारित की गयी है। ये प्राथमिकताएँ इस प्रकार हैंः-

विनिर्माण क्षेत्रः तालिका-1

उद्यम	निवेश (संयंत्र एवं मशीनरी)
सूक्ष्म	25 लाख रुपये तक
लघु	25 लाख से 5 करोड़ रुपये तक
मध्यम	5 करोड़ से 10 करोड़ रुपये तक

सेवा क्षेत्रः तालिका-2

उद्यम	उपकरणों में निवेश
सूक्ष्म	10 लाख रुपये तक
लघु	10 लाख रुपये से 2 करोड़ रुपये तक
मध्यम	2 करोड़ रुपये से 5 करोड़ रुपये तक

सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगों की उपर्युक्त परिभाषा को मई 2020 में संशोधित किया गया है। इसमें विनिर्माण एवं सेवा क्षेत्र को एक ही प्रकार से निर्देशित किया गया है। अर्थात् मापदण्डों में कोई अन्तर नहीं है। यह नई परिभाषा निवेश एवं टर्न ओवर पर आधारित है। यह परिभाषा निम्नवत हैः-

तालिका-3

उद्योग	निवेश	टर्न ओवर
सूक्ष्म	1 करोड़ रुपये तक	5 करोड़ रुपये तक
लघु	20 करोड़ रुपये तक	50 करोड़ रुपये तक
मध्यम	50 करोड़ रुपये तक	250 करोड़ रुपये तक

सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगों का महत्वः

देश में आर्थिक उदारीकरण के पश्चात् तीव्र आर्थिक संवृद्धि के बाद भी गरीबी को दूर करने एवं आय के सामान वितरण में अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं हुई तो इससे 'ट्रिकल डाउन थियोरी' की अर्थहीनता भी भारत में स्थापित हुई। इसी कारण 11वीं एवं 12वीं पंचवर्षीय योजनाओं में समावेशी संवृद्धि को चुनौती एवं लक्ष्य के रूप में चिन्हित किया गया। समावेशी संवृद्धि आर्थिक संवृद्धि का वितरणात्मक पहलू है, जिसके अन्तर्गत समाज के समुदायों एवं सभी भौगोलिक क्षेत्रों की भागीदारी सम्मिलित रहती है। इस समावेशी संवृद्धि को प्राप्त करने एवं पर्याप्त रोजगार सृजन में सूक्ष्म एवं लघु उद्योग महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वृहद् उद्योगों की तुलना में कम पूँजी निवेश से ये उद्योग उद्यमशीलता को प्रोत्साहित करते हैं। इन उद्योगों का परम्परा से देश के ग्रामीण एवं कस्बाई क्षेत्रों में पर्याप्त विस्तार है। इससे क्षेत्रीय आर्थिक सन्तुलन व राष्ट्रीय आय का समान वितरण सुनिश्चित होता है। इसके अतिरिक्त अर्द्ध कुशल एवं अकुशल श्रमिक भी इन उद्योगों में रोजगार प्राप्त कर सकते हैं। वहीं बड़े उद्योगों में कार्य प्राप्त करने के लिए उच्च तकनीक में कुशल होना आवश्यक है। इसके साथ ही बड़े उद्योग अपने कार्य संचालन में स्वचालन (Automation) तकनीकों का प्रयोग होने से वहाँ रोजगार की सम्भावनायें भी सीमित हैं।

ध्यातव्य है कि भारत में कई ऐसे सामाजिक समूह हैं जो कृषिभूमि धारण नहीं करते या कृषि भूमि पर मालिकाना हक बहुत कम रखते हैं, वे भी इन उद्योगों में मालिकाना हक या रोजगार प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए आगरा के चमड़ा उद्योग में जाटव समुदाय श्रमिक एवं उद्यमी दोनों रूप में कार्यरत है। सूक्ष्म व लघु उद्योगों के इसी उपर्युक्त महत्व को UNCTAD ने 2001 की अपनी एक रिपोर्ट में रेखांकित करते हुए कहा है कि लघु उद्योगों का विस्तार आय के वितरण एवं क्षेत्रीय असन्तुलन में समानता लाने का कार्य करता है।

भारत में सूक्ष्म, लघु व मध्यम उद्योग किस प्रकार आय के वितरण में क्षेत्रीय एवं सामाजिक असमानतों को दूर कर सकते हैं, उसे निम्नलिखित आँकड़ों के माध्यम से समझा जा सकता हैः

लिंग के आधार पर स्वामित्व विवरण (प्रतिशत में): तालिका-4

क्षेत्र	पुरुष	महिला	सभी
ग्रामीण	77.76	22.24	100
शहरी	81.58	18.42	100
सभी	79.63	20.37	100

स्रोतः एम.एस.एम.ई. रिपोर्ट, 2019-20

स्वामित्व सामाजिक श्रेणीवार वितरण (प्रतिशत में): तालिका-5

क्षेत्र	अनुसूचित जाति	जनजाति	अन्य पिछड़ा वर्ग	अन्य	ज्ञात नहीं
ग्रामीण	15.37	6.70	51.59	25.62	0.72
शहरी	9.45	1.43	47.80	40.46	0.86

स्रोतः एम.एस.एम.ई. रिपोर्ट, 2019-20

कार्यरत कर्मचारियों का लिंग आधारित वितरण

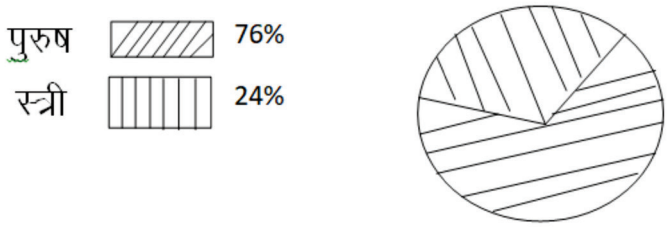

स्रोतः एम.एस.एम.ई. रिपोर्ट, 2019-20

राज्यवार विवरणः तालिका-6

क्र0सं0	राज्य	हिस्सा (प्रतिशत में)
1.	उत्तर प्रदेश	14
2.	पश्चिम बंगाल	14

3.	तमिलनाडु	8
4.	महाराष्ट्र	8
5.	कर्नाटक	6
6.	बिहार	5
7.	आन्ध्र प्रदेश	5
8.	गुजरात	5
9.	राजस्थान	4
10.	मध्य प्रदेश	4
11.	अन्य राज्य/संघ राज्य क्षेत्र	26
12.	सभी	100

स्रोतः एम.एस.एम.ई. रिपोर्ट, 2019-20

उक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि सूक्ष्म, लघु व मध्यम उद्योग आर्थिक विकास में क्षेत्रीय एवं सामाजिक असन्तुलन को दूर करने में सशक्त भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम हैं। इन उद्योगों का क्षेत्रफल व जनसंख्या के आधार पर बड़े आकार वाले राज्यों में भी पर्याप्त विस्तार क्षेत्रीय आर्थिक सन्तुलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यद्यपि पुरुषों के सापेक्ष स्त्रियों की स्वामित्व एवं कर्मचारी के रूप में भागीदारी में पर्याप्त अन्तर है, किन्तु यह अन्तर भारत की सामाजिक स्थितियों एवं परम्पराओं के कारण भी है।

सूक्ष्म, लघु व मध्यम उद्योगों के समक्ष चुनौतियाँः

वर्तमान में औद्योगिक इकाईयों पर उत्पाद की गुणवत्ता, कीमत, डिजाइन, वितरण सुलभता आदि का दबाव है। वहीं दूसरी ओर इन औद्योगिक इकाईयों के लाभ सीमित हैं। इन परिस्थितियों में तकनीक का महत्व बढ़ जाता है, क्योंकि कुशल तकनीक से उत्पादन की लागत को सीमित कर उत्पाद की गुणवत्ता को बढ़ाया जा सकता है, लेकिन सूक्ष्म व लघु उद्यमियों के पास इतने पर्याप्त वित्तीय संसाधन नहीं है कि वे आधुनिक तकनीक में पर्याप्त पूँजी निवेश कर सकें। इस सन्दर्भ में फिरोजाबाद काँच क्लस्टर का शोधार्थी द्वारा किया गया क्षेत्र अध्ययन काफी महत्वपूर्ण है। क्षेत्र अध्ययन के दौरान काँच उद्योग विकास केन्द्र, फिरोजाबाद के मुख्य तकनीकविद् देवेन्द्र शाह ने बताया कि सम्बन्धित संस्था के पास किसी तकनीक के ट्रायल के लिए केन्द्र व राज्य सरकार द्वारा वित्तीय सहायता उपलब्ध नहीं करायी जाती। वहीं क्लस्टर में कार्यरत उद्यमियों का मानना था कि उनके कारखाने सीमित लाभ से संचालित हो रहे हैं। अतः वे किसी तकनीक के ट्रायल में असफल होने का वित्तीय बोझ उठाने में असमर्थ हैं। इस तरह स्पष्ट है कि सूक्ष्म व लघु उद्योगों के लिए

आधुनिक एवं कुशल तकनीक में निवेश करना एक बड़ी समस्या है।

ध्यान देने योग्य है कि प्रतिस्पर्धी बाजार व्यवस्था में किसी भी तकनीक का जीवन चक्र बहुत कम होता है। नये विकल्प उपलब्ध होते ही यह आसानी से परिवर्तित हो जाती है। सूक्ष्म व लघु उद्योग किसी तकनीक की विश्वसनीयता की जाँच, उत्पाद के कार्य प्रदर्शन एवं अप्रत्याशित अवांछित परिणामों का मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं हैं। अतः सूक्ष्म व लघु उद्योगों में कोई भी तकनीक काल वाह्य (Out dated) होने पर भी बनी रहती है।

वैश्वीकरण से बाजार का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हुआ है। इस स्थिति में सूक्ष्म व लघु उद्योग किस प्रकार अपने उत्पादों की बाजार में उपस्थिति दर्ज करायें, इसके लिए आवश्यक है कि इन उद्योगों के पास कुशल प्रबन्धन क्षमता एवं विपणन नीति का होना आवश्यक है। लेकिन ये उद्योग किसी तार्किक एवं क्रमबद्ध उपागम का चुनाव नहीं करते, तात्कालिक अवसरों के आधार पर ही चुनाव करते हैं। विपणन के लिए लक्षित देश के चुनाव में उस देश की आर्थिक नीतियों, स्थायित्व, व्यापारिक वातावरण आदि पर इन उद्योगों द्वारा ध्यान नहीं दिया जाता।

संस्थागत वित्त की उपलब्धता व इन उद्यमों की क्षमता एक चुनौती बनी हुई है। फिरोजाबाद काँच उद्योग के क्षेत्र अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कागजी कार्यवाही एवं जानकारी के अभाव में कई छोटे उद्यमी बैंक से ऋण प्राप्त करने में सफल नहीं रहते हैं। इसके साथ ही यहाँ की अधिकांश सूक्ष्म इकाइयाँ उद्योग बन्धु पोर्टल एवं जिला उद्योग केन्द्र के साथ पंजीकृत नहीं हैं। इस कारण भी ये इकाइयाँ सरकारी वित्तीय योजनाओं से लाभान्वित नहीं होती हैं।

सूक्ष्म व लघु उद्योगों के लिए श्रम कानूनों को लागू करना भी एक बड़ी समस्या बन गई है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वैसे ही सूक्ष्म व लघु उद्योगों का लाभांश बहुत सीमित है। इस कारण इन कानूनों को लागू करने से उनकी वित्तीय क्षमतायें और भी अधिक सीमित हो गयी हैं। अतः सूक्ष्म व लघु उद्योगों की उत्पादन क्षमता का विस्तार सम्भव नहीं हो रहा है।

उपर्युक्त समस्याओं की चिन्ता सरकार की नीतियों में भी दिखाई दे रही है। इन समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न योजनाओं का क्रियान्वयन भी किया जा रहा है, किन्तु लक्षित एवं व्यावहारिक योजनाओं के अभाव में अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हो रहे हैं।

अवसरः

वैश्विक बाजार के एकीकरण से भारतीय सूक्ष्म व लघु उद्योग वैश्विक उत्पाद श्रृंखला एवं आपूर्ति श्रृंखला के हिस्से बन सकते हैं। इस प्रकार वैश्विक बाजार में अपनी उपस्थिति दर्ज करा सकते हैं। दूसरी ओर वैश्वीकरण उदारीकरण ने उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया है। इससे बाजार में माँग में वृद्धि हुई है। ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश सूक्ष्म व लघु उद्योग उपभोक्ता केन्द्रित वस्तुओं यथा कपड़े, बर्तन, जूते, फर्नीचर

आदि से सम्बन्धित हैं। अतः इन वस्तुओं की माँग में वृद्धि से इन उद्योगों की परिधि का विस्तार हो सकता है। उदाहरण के लिए बढ़ते शहरीकरण, फार्मा सेक्टर और ऊर्जा आटोमोबाइल सेक्टर आदि से ग्लास की उपयोगिता बढ़ी है। यह बढ़ी हुई उपयोगिता फिरोजाबाद काँच उद्योग के लिए सम्भावनाओं के द्वार खोल रही है। ई-कॉमर्स व सूचना प्रौद्योगिकी के बढ़ते प्रयोग से सूक्ष्म व लघु उद्योग अपने उत्पादों को अंतर्राष्ट्रीय बाजार में सहजता से उपलब्ध करा सकते हैं, किन्तु इस दिशा में भी इन उद्योगों की उदासीनता बनी हुई है।

उपलब्ध बाजार अवसरों का लाभ प्राप्त करने के लिए साख व वित्त की सहज प्राप्ति, सहायक कानूनी एवं नियामक प्रावधानों की मौजूदगी, आधुनिक वांछनीय तकनीक तक पहुँच, विपणन सुविधाओं में वृद्धि, श्रम कानूनों में सुधार आदि की अति आवश्यकता है।

उपसंहारः

सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योग देश के आर्थिक विकास में कई प्रकार से सहायक हैं। ग्रामीण व शहरी दोनों ही क्षेत्रों में रोजगार का सृजन करते हैं। इसके साथ ही स्थानीय स्तर पर रोजगार उपलब्ध कराने के कारण बड़े शहरों की ओर होने वाले प्रवसन को रोकने में भी सक्षम हैं। भारत के कुल सकल घरेलू उत्पाद में 16 प्रतिशत योगदान भी इन्हीं उद्योगों का है। किन्तु उदारीकृत मुक्त बाजार व्यवस्था में बड़ी फर्मों व सस्ते आयातित उत्पादों से प्रतिस्पर्धा में ये उद्योग पिछड़ गये हैं। कम लागत वाली तकनीकों के विकास एवं नवाचारों में वृद्धि से इस प्रतिस्पर्धा में ये उद्योग ठहर सकते हैं। सस्ते संस्थागत वित्त की उपलब्धता एवं नियामकीय जटिलताओं का अभाव इन उद्यमों के विस्तार के लिए काफी महत्वपूर्ण है।

संदर्भः

1. चिनारा, मिताली व राउत, हिमांशु शेखर (2017), 'माइक्रो स्मॉल एण्ड मीडियम इण्टरप्राइजेज इन इमर्जिंग इण्डिया' न्यू सेंचुरी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 103, 110, 115, 67 व 71
2. इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ बैंकिंग एण्ड फाइनेंस (2017), 'माइक्रो, स्मॉल एण्ड मीडियम इण्टरप्राइजेज इन इण्डिया', टैक्समान पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 11
3. भवानी, टी.ए. (2009), 'ग्लोबलाइजेशन एण्ड इण्डियन स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज (टेक्नोलॉजी एण्ड कम्पटीटिवनेस), एने बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ. 2
4. कपिला, उमा (संपा.) (2016), इण्डियन इकोनॉमिक डेवलपमेन्ट सिंस 1947, नई दिल्ली, पृ. 310-312.
5. राजा, के (2015), ग्लोबलाइजेशन एण्ड स्मॉल स्केल इण्डस्ट्री (इश्यूस एण्ड चैलेंजेस), सीरियल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 19-21
6. वार्षिक रिपोर्ट (2019-20), सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यान मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली,

पृ. 20-28.
7. गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया (2016), एम.एस.एम.ई. एट ग्लाँस, माइक्रो, स्मॉल एण्ड मीडियम इण्टरप्राइजेज, नई दिल्ली.
8. आर्थिक सर्वेक्षण भारत सरकार, 2015-16
9. ''ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उदार-वैश्विक अर्थव्यवस्था का भारतीय स्थानीय उद्योगों पर प्रभाव उत्तर प्रदेश के काँच उद्योग के विशेष परिप्रेक्ष्य में'' शोध प्रबन्ध (2021), इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
10. www.indiabudget.gov.in 12.02.2021

स्वराज के पचहत्तर वर्ष और भारतीय कृषि

डॉ. हर्ष मणि सिंह[1]

प्रेमचंद ने 'पूस की रात'[2] कहानी करीब 100 साल पहले सन् 1921 में लिखी थी। उस दौर में कृषि और किसानों की स्थिति को जानने समझने के लिए यह दुर्लभ कहानी है। मुंशी प्रेमचंद का रचना-काल और मौजूदा दौर में किसानों की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो एक बात तो स्पष्ट हो जाएगी कि किसानों के लिए स्थितियां सन् 1757 के औपनिवेशिक काल से अब तक बहुत बेहतर नहीं हुई हैं। इस कहानी में किसानों की दो समस्याएं मुख्य रूप से उभर कर सामने आती हैं, कर्ज में डूबा किसान और खेती का लाभकारी ना होना। कर्ज में डूबे किसान को राहत देने के लिए बैंकों के राष्ट्रीयकरण से लेकर यूबीआई (यूनिवर्सल बेसिक इनकम)[3] जैसे उपाय जारी हैं। दूसरी ओर खेती को लाभकारी बनाने के लिए कृषि कीमत नीति से लेकर कृषि सुधार से संबंधित प्रयास किये गये हैं।

औपनिवेशिक व्यवस्था में खेती-बाड़ी और भारतीय किसानः

भारतीय कृषि का वर्तमान परिदृश्य उसके इतिहास का परिणाम है। औपनिवेशिक शासन से पूर्व भारत में कृषि उत्पाद और हस्त निर्मित उत्पादों को एक इनपुट-आउटपुट आधारित अर्थव्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। ढाका की मलमल इसका एक बेहतरीन उदाहरण है, उसे उत्कृष्ट कपास से बनाया जाता था जो बांग्लादेश तत्कालीन भारतीय बंगाल की मेघना नदी के किनारे पैदा किया जाता था। यह उस दौर का सबसे महंगा कपड़ा था। साल 1851 के आसपास एक गज मलमल की कीमत 50 से 400 पाउंड के बीच होती थी। आज के हिसाब से यह 7 हजार से 56 हजार पाउंड का बैठता है। मेघना नदी के किनारे पैदा होने वाली कपास से बना मलमल का यह कपड़ा उत्तम कोटि का होता था, जिसे उस समय 'बुनी हुई हवा' कहा जाता था। यह कपास का धागा इतना हल्का होता था कि औद्योगिक मशीनों के इस्तेमाल से टूट जाता था। वास्तव में, स्थानीय लोगों ने हजारों सालों से विकसित सरल तकनीकों के जरिए इस नाजुक धागे

1 असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, अर्थशास्त्र, ईश्वर शरण कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

2 प्रेमचंद के मुंतखाब अफसाने पृष्ठ 85-86, 'पूस की रात' प्रेमचंद रेख्ता डॉट ओआरजी

3 आर्थिक समीक्षा वित्त मंत्रालय, भारत सरकार, वर्षः 2016-17, पृष्ठ 172-195

को साधना सीख लिया था। श्रम के विभाजन की दृष्टि से यह पूरी तरह सामुदायिक काम था, जिसमें युवा, बुजुर्ग, महिलाएं और पुरुष सब शामिल होते थे। धागे तैयार करने के लिए काफी नमी की आवश्यकता पड़ती थी इसलिए यह काम नावों पर किया जाता था। यह काम बिल्कुल सुबह या ढलती दुपहरी में होता था, जब सबसे ज्यादा नमी होती है। 'गुड्स फ्रॉम द ईस्ट 1600-1800'[4] नाम की पुस्तक में कहा गया है कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने 18वीं सदी के अंत में मलमल बनाने की नाजुक प्रक्रिया में टांग अड़ाना शुरू कर दिया।' सबसे पहले कंपनी ने मलमल के स्थानीय खरीदारों को हटाकर इसे स्वयं खरीदना शुरू कर दिया। इसके उत्पादन और व्यापार पर कब्जा के बाद भी बुनकरों से कम कीमत पर ज्यादा कपड़ा तैयार करने को कहने लगे। यह इस उद्योग के लिए कठिन वक्त था। ब्रिटिश कारोबारियों ने मशीनों से उत्पादन का फैसला किया, जिससे ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाया जा सके, लेकिन साधारण कपास से तैयार मलमल, हाथ से बुने ढाका के मलमल का मुकाबला नहीं कर पा रहा था। युद्ध और गरीबी ने बुनकरों को उचित कीमत न मिलने पर इस उद्योग से पलायन करने को विवश किया।

कृषि में व्याप्त विसंगतियों को समझने के लिए हमें स्वतंत्रता से पूर्व औपनिवेशिक काल के भारत के आर्थिक इतिहास पर भी गौर करना होगा। इस लिहाज से भारत के आर्थिक इतिहास को तीन चरणों में देखा जा सकता है।

पहला चरण (1757 से 1813):

इस काल में दो महत्वपूर्ण युद्ध लड़े गये सन् 1757 में प्लासी का युद्ध और सन् 1764 में बक्सर का युद्ध।[5] दोनों ही युद्ध के तात्कालिक कारण भले ही राजनीतिक थे पर इसका अंतिम प्रभाव भारत की जीवन-रेखा कही जाने वाली कृषि आधारित अर्थव्यवस्था पर पड़ना तय था। इंग्लैंड ने भारत के साथ व्यापार में एकाधिकार हासिल कर लिया। इस व्यापार का परिणाम यह रहा कि इंग्लैंड ने भारतीयों से कम से कम दाम पर सामान खरीदना और फिर उसे अधिकतम दाम पर बेचने की नीति अपनाकर भारतीय संसाधनों का दोहन प्रारंभ कर दिया। इस तरह व्यापार की शर्तें भारतीयों के प्रतिकूल होती गईं और इसका सबसे आसान शिकार भारत का हस्तशिल्प उद्योग हुआ जिसकी लगातार अवनति हुई। ढाका के मलमल के कारीगरों ने अपने हाथ खड़े कर दिए, रेशम व जूट के कारखानों में मंदी के कारण आर्थिक हालत लगातार खराब हुए।

दूसरा चरण (1813 से 1857):

इस दौर में ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति का भारतीय अर्थव्यवस्था पर गहरे आर्थिक प्रभाव को देखा जा सकता है, जिसमें सबसे ज्यादा दुर्गति किसानों की हुई। औपनिवेशिक शोषण पर आधारित उपनिवेशवाद

4 गुड्स फ्राम द ईस्ट, 1600-1800: हेडिग यूरेशियाः पालग्रेव पब्लिकेशन, 2015

5 एनसीईआरटी सामाजिक विज्ञान भाग-1, वर्ष 2005, पृष्ठ 51-57

के अनुरूप ही भारतीय अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक बदलाव किए गए। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही भारतीय कृषि क्षेत्र का विकास हुआ। जमींदार को समर्थक वर्ग के रूप में प्रश्रय दिया गया, किसान या रैयत का औपनिवेशिक व्यवस्था के अनुरूप ही शोषण किया गया। यह शोषण मुख्य कर दो स्तर पर देखने को मिलता है। खाद्यान्न के बजाय वाणिज्य फसलों को महत्व दिया गया इस दौरान कुछ बंगाली बुद्धिजीवियों ने किसानों की आवाज को उठाया। हिंदू पेट्रियट के संपादक हरिश्चंद्र मुखर्जी, नील दर्पण नाटक के लेखक दीनबंधु मित्र में अपने लेखों में बताया कि किस प्रकार नील बागान के मालिकों ने धान की खेती करने वाले किसानों को पेशगी (एडवांस) देकर नील की खेती करने के लिए विवश किया, इसका परिणाम यह हुआ कि किसान अपने ही खेत में बंधुआ मज़दूर हो गए। कपास व धान की खेती की बजाए नील, कॉफी, रबर और चाय की खेती भारतीय कृषि में यहां के किसानों के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। रेल का विकास खेतिहर मजदूरों व वाणिज्यिक फसलों के यातायात के लिए जरूरी था। यदि प्राइमरी सेक्टर को सेकेंडरी सेक्टर से जोड़ा जाता तो भारत में उस समय सूती मिलों के कारखानों की जो आवश्यकता थी, जिन्हें रेलवे से प्रतिस्थापित किया गया और एक मजबूत विनिर्माण क्षेत्र की बुनियाद से वंचित रखा गया, जिससे भारत को औद्योगिक क्रांति का लाभ न मिल सका।'[6]

तीसरा चरण (1858 से 1947) :

दादाभाई नौरोजी ने सन् 1901 में लिखे अपने लेख 'अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' में 'द ड्रेन थ्योरी' का प्रतिपादन किया, इसमें भारत के संसाधनों के आर्थिक दोहन का स्पष्ट साक्ष्य मिलता है, जिसमें यहां तक वर्णित है कि भारत को भुखमरी के कगार पर किस तरह ला खड़ा किया गया। सन् 1950 से 1900 मध्य अकाल से करोड़ों लोग मारे गए। वाणिज्यिक फसलों ने खाद्यान्न फसलों की जगह ले ली, जिससे खाद्यान्न फसलों का रकबा कम हुआ, इसका परिणाम अनाज के दामों में बढ़ोतरी के रूप में देखने को मिला। खाद्यान्न फसलों के उत्पादन उत्पादकता का जो संकट शुरू हुआ उसका परिणाम यह हुआ की आजादी के बाद कृषि प्रधान देश होते हुए भी भारत एक आयातक देश के रूप में बना रहा।[7]

स्वतंत्रता के पश्चात किसानों के लिए विकास की रणनीतिः

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले भारतीय कृषि एक जीविकोपार्जन अर्थव्यवस्था से अधिक न थी। बीसवीं शताब्दी के मध्य तक इसका प्रदर्शन बड़ा दयनीय था। यह समय भयंकर अकाल वो सूखे का साक्षी था। देश विभाजन (1947) के दौरान एक तिहाई सिंचित भूमि पाकिस्तान में चली गई, परिणाम स्वरूप स्वतंत्र

6 एनसीईआरटीः सभ्यता की कहानी- भाग-1, वर्ष 1997, पृष्ठ 179-192

7 एनसीईआरटी, सभ्यता की कहानी - भाग-1, वर्ष 1997, पृष्ठ 179-192

भारत में सिंचित कृषि क्षेत्र का अनुपात भी कम रह गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय देश की भूधारण पद्धति में जमींदार, जागीरदार आदि का वर्चस्व था। यह खेतों में कोई सुधार किए बगैर मात्र लगान की वसूली किया करते थे। भारतीय कृषि क्षेत्र की कम उत्पादकता के कारण भारत को संयुक्त राज्य अमेरिका से अनाज आयात करना पड़ता था। बाकायदा Public Law 480 के तहत अमेरिका भारत को गेहूं का निर्यात करता था और उसके बदले में भारत से अपनी अंतरराष्ट्रीय विदेश नीति का मौन समर्थन चाहता था। कृषि में समानता लाने के लिए भू सुधारों की आवश्यकता हुई, जिसका मुख्य ध्येय जोतों के स्वामित्व में परिवर्तन करना था। स्वतंत्रता के एक वर्ष बाद ही देश में बिचौलियों के उन्मूलन तथा वास्तविक कृषकों को ही भूमि का स्वामी बनाने जैसे कदम उठाए गए, लेकिन आवश्यकता यह भी थी कि उन्हें पार्याप्त पूँजी और तकनीकी भी उपलब्ध कराई जाये। समानता बढ़ाने के लिए भूमि की अधिकतम सीमा का निर्धारण भी जरूरी हो गया था,जिससे कुछ लोगों के हाथ में भू-स्वामित्व के संकेंद्रण को कम किया जा सके। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकार का तात्कालिक उद्देश्य खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाना था। इसके लिए सरकार ने तीन उपायों पर अपना ध्यान आकर्षित किया। पहला, व्यापारिक फसलों की जगह खाद्यान्नों का उगाया जाना। दूसरा, कृषि गहनता को बढ़ाना। तीसरा, परती भूमि को कृषि भूमि में परिवर्तित करना। प्रारंभ में इन नीतियों से खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ा, लेकिन सन् 1950 के दशक के अंत तक कृषि उत्पादन स्थिर हो गया। सन् 1960 के दशक के मध्य में लगातार दो अकालों से देश में अन्न संकट उत्पन्न हो गया, परिणाम स्वरूप दूसरे देशों से खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा।

सन् 1960 के दशक के मध्य गेहूं (मेक्सिको) तथा चावल (फिलीपींस) की किस्में जो अधिक उत्पादन देने वाली नई किस्में थी, कृषि के लिए उपलब्ध हुईं। भारत ने इसका लाभ उठाया। कृषि विकास की इस नीति से खाद्यान्नों के उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई, जिसे 'हरित क्रांति'[8] की संज्ञा दी गई।' हरित क्रांति ने कृषि में प्रयुक्त कृषि निवेश, उर्वरक, कीटनाशक, कृषि यंत्र, कृषि आधारित उद्योगों तथा छोटे उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन दिया, लेकिन हरित क्रांति देश के सिंचित भागों तक ही सीमित थी। फलस्वरूप कृषि विकास में प्रादेशिक असमानता बढ़ी।

सन् 1990 के दशक की उदारीकरण नीति तथा मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था ने भारतीय कृषि विकास को भी प्रभावित किया। ग्रामीण अवसंरचना विकास से ग्रामीण जनजीवन सुलभ हुआ है, लेकिन यह सुलभता खेती को लाभकारी होने के लिए काफी नहीं ।

खेती को लाभकारी बनाना और किसानों की आय दोगुनी करना:

कीमत मुख्य रूप से उत्पादक (किसान) और उपभोक्ताओं के मध्य स्थापित होने वाले अंतर्सम्बंध का

8 भारतीय अर्थव्यवस्था, वी.के. पुरी एवं एस.के. मिश्र, वर्ष 2020, पृष्ठ 44-45

परिणाम है। जब बाजार में कीमतों में अनिश्चितता (उतार-चढ़ाव) दिखाई पड़ती है तब यह उपभोक्ताओं और उत्पादकों के हितों के टकराव का परिणाम होती है, जो अर्थव्यवस्था के लिए असंतुलन, निवेश निरुत्साह, कीमतों में वृद्धि (मुद्रास्फीति) आय की असमानताओं को जन्म देती हैं और अंततः कृषि क्षेत्र में आर्थिक वृद्धि दर को कम कर देती है। उदाहरण के लिए किसी वर्ष में किसानों को आलू की पैदावार से ऊंची कीमत प्राप्त होती है। तब किसान अगले वर्ष भी 'जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी कीजै' का अनुकरण करते हुए आलू की पैदावार में वृद्धि करते हैं। नतीजा बाजार में आलू की आपूर्ति आलू की मांग की तुलना में बढ़ जाती है, जिससे कीमत में गिरावट का प्रभाव सभी उत्पादकों पर पड़ता है और किसानों की आय में कमी आती है, परन्तु इसका लाभ उपभोक्ताओं को मिलता है। अगले वर्ष सभी उत्पादक पिछले अनुभव के आधार पर आलू का रकबा घटा देते हैं। इससे बाजार में आलू की मांग आलू की पूर्ति की तुलना में बढ़ जाती है, जिससे कीमतों में वृद्धि होने लगती है। कीमत की वृद्धि से जहां उपभोक्ताओं को महंगाई का सामना करना पड़ता है वहीं आलू की पैदावार कम होने के कारण उत्पादकों को बहुत अधिक लाभ नहीं मिल पाता। निष्कर्षतः कीमतों में अनिश्चितता बनी रहती है, जो सरकार द्वारा मूल्य निर्धारण नीति में हस्तक्षेप को और अपरिहार्य बना देती है।

इस हस्तक्षेप के माध्यम से सरकार की कृषि नीति के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं कीमतों को बहुत ज्यादा न बढ़ने देना और कीमतों को एक न्यूनतम स्तर से नीचे न गिरने देना। स्वाभाविक है यह तभी हो पाएगा जब सरकार के पास अतिरिक्त भण्डारण की व्यवस्था हो और साथ ही बड़े पैमाने पर जन वितरण प्रणाली का विकास भी आवश्यक है ताकि उपभोक्ताओं को उचित दाम पर खाद्यान्न व अन्य कृषि वस्तुएं उपलब्ध कराई जा सकें। न्यूनतम समर्थन मूल्य का निर्धारण करते समय सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि उत्पादकों के बीच उत्पादन करने की प्रेरणा बनी रहे और कीमतें ऐसे स्तर पर निर्धारित की जाएं जो किसानों को और ज्यादा उत्पादन के लिए प्रेरित कर सकें, लेकिन न्यूनतम समर्थन मूल्य से मिलने वाले लाभ कुछ फसलों व कुछ क्षेत्र के किसानों तक सिमट कर रह गई है। ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि न्यूनतम समर्थन मूल्य का लाभ ज्यादातर मध्यवर्ती एजेंटों को मिला, वास्तविक किसान इससे अछूते रह गए।

आजादी के 75 वर्ष और कृषि क्षेत्र के वास्तविक सुधार:

कृषि क्षेत्र में मौजूदा कानूनों ने भारतीय किसानों को स्थानीय मंडी और बिचौलियों ने गुलाम बना रखा है। देश में गैर कृषि के सभी निर्माताओं की प्रत्येक श्रेणी को यह तय करने की स्वतंत्रता हासिल है कि उन्हें उत्पाद को कहां बेचना है, परन्तु कृषक इससे वंचित हैं। कृषि क्षेत्र में भी एक भारत एक बाजार की नीति के आधार पर किसानों की आय दोगुनी की जा सकती है।

एक ऐसे बाजार तंत्र के निर्माण की आवश्यकता है जहां किसान तथा व्यापारी अपने कृषि उत्पादों

का क्रय-विक्रय अपनी इच्छा से कर सकें। बहुत से प्रदेशों में किसान अपनी उपज मंडी के बाहर नहीं बेच सकता। वहां किसानों और खरीदारों को कृषि उपज को एपीएमसी मंडियों के बाहर भी बेचने की छूट होनी चाहिए। कृषि व्यवसाय से जुड़ी कंपनियों, प्रसंस्करण इकाइयों, निर्यातकों और कृषि सेवाओं के बड़े खुदरा विक्रेताओं से जुड़ने का सीधा अवसर प्राप्त होना चाहिए, ताकि कृषक भविष्य की खेती की उपज की बिक्री के लिए एक उचित, पारदर्शी आपसी सहमति पर आधारित ऐसा मूल्य प्राप्त कर सकें जो उन्हें बेहतर और ज्यादा उत्पादन करने में सक्षम बनाये।

कृषि सुधार उपचार बनाम व्याधि और किसानः

भारत में किसानों को लंबे समय से अपनी उपज को बेचने और अपने पारिश्रमिक लागत का उचित मूल्य प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ा है। किसानों को आढ़त व्यवस्था और बिचौलियों के कारण उचित मूल्य नहीं प्राप्त हो पता। एपीएमसी कानून के कारण एक राज्य से दूसरे राज्य में कृषि उत्पाद के आवागमन में परिवहन से जुड़ी अनेक बाधाएं आतीं हैं।

अब तक की बाजार व्यवस्था और एपीएमसी कानूनों के कारण किसानों को विभिन्न प्रकार की बाधाओं और हानियों का सामना करना पड़ता रहा है। सबसे प्रमुख समस्या किसानों और अंतिम उपभोक्ता तक उत्पादन पहुंचने की प्रक्रिया में असंख्य बिचौलियों की मौजूदगी है, इससे किसान अपनी उपज का उचित मूल्य प्राप्त नहीं कर पाते हैं। किसानों के लिए बाजार के आकार को बढ़ाने का प्रयास होना चाहिए जिससे किसान प्रतिस्पर्धी बाजार में अपनी उपज का उचित मूल्य प्राप्त कर सकें।

आज कृषि क्षेत्र में उत्पादन तकनीकी, प्रसंस्करण और बाजार प्रबंधन के क्षेत्र में व्यापक सुधार की आवश्यकता है। आज देश को नई कृषि नीति की नितांत आवश्यकता है। कृषि क्षेत्र में सुधार के लिए सितंबर 2020 में तीन कृषि कानून बनाये गए थे, लेकिन किसानों को भ्रमित करके सरकार को उन्हें वापस लेने के लिए बाध्य किया गया, जिसके फलस्वरूप कृषि क्षेत्र की समस्या यथावत बनी हुई है। कृषि को आत्मनिर्भर और लाभकारी बनाने के लिए यथाशीघ्र सुधारों की आवश्यकता है।

सन्दर्भः

1. आर्थिक समीक्षा, वित्त मंत्रालय, वर्ष 2017-18
2. आर्थिक समीक्षा, वित्त मंत्रालय, वर्ष 2018-19
3. आर्थिक समीक्षा, वित्त मंत्रालय, वर्ष 2019-20
4. आर्थिक समीक्षा, वित्त मंत्रालय, वर्ष 2020-21
5. राष्ट्रदृष्टि, डॉ. चंद्र प्रकाश सिंह (2019), अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ
6. संत्रस्त भारतीय कृषि का नव प्रबन्धन, प्रो. वीरेन्द्र कुमार दुबे (वर्षः 2008)

भारत में बेरोजगारी : कारण और निवारण

डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र[1]

हमारी प्राचीन 'धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था' में समाज के सबसे कमज़ोर वर्ग को किस प्रकार घर बैठे गाँव में ही रोज़गार प्राप्त था, इस बात को 'सत्यनारायण व्रतकथा' के माध्यम से समझा जा सकता है। यदि हम कथावाचक पुरोहित के द्वारा बताई गयी केवल 'पूजन सामग्री' की सूची पर ध्यान दें तो, इसमें-नवीन मिट्टी का कलश; उसको ढँकने के लिये मिट्टी का पात्र; इस प्रकार कुल पाँच कलशों की स्थापना। पाँच चाक के दीपक; कुल 15 मिट्टी के नवीन बर्तन, इस माध्यम से कुंभकार (कुम्हार या कोंहार) को अपने गाँव में घर बैठे ही मिट्टी का बर्तन बनाने का रोज़गार मिला। कथा में प्रयुक्त काष्ठ की चौकी; उस पर बिछाने के लिए पीला वस्त्र; वह भी हाथ का बुना हुआ; न कि मशीन निर्मित। इसके अतिरिक्त अन्य पूजा सामग्रियाँ; यथा- कर्पूर, अगरबत्ती, विभिन्न प्रकार के पीले-लाल-नीले-श्वेत पुष्पादि, हवन सामग्री में अनेक प्रकार की लकड़ियाँ, गाय के दूध या मट्ठे में मिली हुई किशमिश, छुहारा, मुनक्का, गरी, नारियल आदि से निर्मित पंचामृत-चरणामृत, 'जौ' के आटे से निर्मित सूखा प्रसाद तथा उसमें मिलाये गये कई प्रकार के मेवे, मखाना, चीनी, गुड़, पान, सुपारी, ध्वजा, नारियल, चुनरी, तिल आदि। क्या हमने कभी विचार किया है कि इससे कितने लोगों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रोज़गार घर बैठे थोड़ी-सी मेहनत करके 'मिला हुआ था?

काष्ठ की चौकी बनाने से बढ़ई को, उस पर बिछाने के लिए हाथ से बुने हुए लाल-पीले वस्त्र से 'बुनकर' को; वस्त्रों को रंगने वाले 'रंगरेज' को; ताम्बूल, सुपारी आदि के माध्यम से इन वस्तुओं का उत्पादन-विक्रय करने वाली 'बरई'[3] को; छोटे-मोटे गुमटी वाले 'पनेड़ियों' को; 'कर्पूर-अगरबत्ती' आदि के विक्रय से इन वस्तुओं का निर्माण करने वाले, विक्रय करने वाले व्यवसायियों को; हवन सामग्री की लकड़ियों, लकड़ी के बने सुग्गों आदि से लकड़ी आदि का व्यवसाय करने वालों को; हवन सामग्री में 'यव' (जौ) के[4] प्रयोग से- 'जौ' उगाने वाले किसान को; पंचामृत-चरणामृत आदि में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न सामग्रियों से (मुनक्का, छुहारा, किशमिश, बादाम, गरी आदि) छोटे-छोटे कारोबारियों तथा इनके उत्पादन से जुड़े हुए लोगों को रोजगार मिला हुआ था।

सम्पूर्ण भारत में 'सत्यनारायण व्रत कथा' के समान अनेकों कथाएँ; तीज, चौथ, छठ और एकादशी,

1 असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सनातन धर्म स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुजफ्फर नगर, उत्तर प्रदेश

शिवरात्रि आदि व्रत, दीपावली, दुर्गापूजा, दशहरा, होली आदि त्यौहार, स्थान-स्थान पर लगनेवाले मेले आदि वृहत् पैमाने पर प्रचलित हैं, जिनमें अनेकों प्रकार की आर्थिक गतिविधियाँ संचालित होती हैं। हमारी सामाजिक परम्पराओं में व्रत, त्यौहार एवं कथाओं आदि के माध्यम से लोगों का स्वास्थ्य, आचार, विचार, व्यवहार और रोजगार को सुरक्षित किया गया था। इन व्यवस्थाओं के माध्यम से कोई भी किसी की भी वृत्ति (रोज़गार) का हरण नहीं करता था, अपितु सभी अपने-अपने पूर्व निर्धारित कर्म (व्यवसाय आदि) के अनुसार एक दूसरे का भरण-पोषण करते हुये जीविकोपार्जन करते थे। कभी भी इच्छानुसार अपना कर्म बदल सकते थे और बेकारी से मुक्त थे।

हमारी संस्कृति ने अनेकानेक सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक आयोजनों-त्यौहारों आदि के द्वारा 'सनातन अर्थव्यवस्था' का निर्माण किया; उसे मज़बूती प्रदान की, तथा खेल-ही-खेल में लाखों-करोड़ों रोज़गार भी सृजित किए। देश भर में सनातन धार्मिक व्यवस्था के द्वारा प्रवर्तित लगभग साठ बड़े एवं महत्वपूर्ण त्यौहार मनाए जाते हैं। इन बड़े त्यौहारों, धार्मिक-आध्यात्मिक आयोजनों के अतिरिक्त पूरे देश में हज़ारों क्षेत्रीय त्यौहार भी प्रचलन में हैं। मात्र इन त्यौहारों के माध्यम से ही लगभग पच्चीस से तीस लाख करोड़ रुपए का व्यापार (भारत की कुल जीडीपी का लगभग 12-15 प्रतिशत) पूरे देश में होता है तथा एक कैलेण्डर वर्ष में इन त्यौहारों-आयोजनों के माध्यम से लगभग चालीस से पैंतालीस करोड़ लोगों को रोज़गार मिलता है। केवल साठ बड़े और महत्वपूर्ण त्यौहारों से ही एक कैलेण्डर वर्ष में लगभग दस लाख करोड़ का व्यापार पूरे देश में होता है तथा इनके माध्यम से अनुमानतः दस करोड़ लोगों को रोज़गार मिलता है।

हिंदू धर्म (शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध, जैन, सिख धर्म तथा उनकी अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ, पंथ आदि) के देश भर में छोटे-बड़े मिलाकर लगभग दस लाख से अधिक मंदिर है, जिनमें प्रत्येक मंदिर से औसतन एक हजार परिवारों का व्यवसाय चलता है; भरण-पोषण होता है। इस व्यवस्था की सबसे खास बात यह है कि, इन मंदिरों और त्यौहारों आदि से जुड़े व्यवसायों में नब्बे प्रतिशत से अधिक लाभ कमज़ोर और वंचित वर्ग को ही मिलता है; जिसमें हिंदुओं के अतिरिक्त अन्य धर्मों के भी कमज़ोर और वंचित वर्ग (जैसे मुस्लिम आदि) के लोग भी रोज़गार प्राप्त करते हैं। मंदिर के अगल-बगल की अधिकांश दुकानें आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्ग से जुड़े हुए लोगों की ही होती हैं।

सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक-अध्यात्मिक मूल्यों से परिपूर्ण इस व्यवस्था में मनुष्य के सोलह संस्कारों, नूतन गृह प्रवेश, विवाहादि जैसे अनेकानेक मांगलिक संस्कारों-कार्यक्रमों आदि के माध्यम से भी लाखों-करोड़ों रोज़गार सृजित होते हैं। भगवान के भोग के माध्यम से भी हज़ारों रोज़गार सृजित होते हैं। तुलादान के द्वारा चाण्डाल के वृत्ति (रोज़गार) की पूर्ति की जाती थी। मनुष्य के अंतिम संस्कार के द्वारा डोम, नाई, महापातक, शूद्र, कुंभकार, क़फनकार आदि सबकी वृत्ति (आजीविका) की व्यवस्था होती है। यह

व्यवस्था सुचारू तरीके से काम करती रही तब तक किसी को भी अपना गाँव, घर-दुआर छोड़ कर मुंबई, दिल्ली, कोलकता आदि में रहकर त्रासदीपूर्ण जीवन नहीं जीना पड़ा। 'वर्णाश्रम व्यवस्था' में सब की वृत्ति (आजीविका-रोज़गार) आदि सामाजिक नियमों द्वारा स्वतः निर्धारित थी। इस व्यवस्था में अपना व्यवसाय बदल लेने की खुली आजादी थी। ऐसा करने के पीछे यह विचार कार्य कर रहा था कि यदि सभी वर्ण एक दूसरे के साथ भ्रातृत्वपूर्वक रहकर एक दूसरे का भरण-पोषण करेंगे तो सब में एकता की भावना के विकास के साथ-साथ सभी का रोजगार, आजीविका आदि निर्धारित रहेगी। इस प्रकार की व्यवस्था से समाज को लाभ होने पर राष्ट्र की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होगी। अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ होने पर धर्म की रीढ़ मजबूत होगी। वास्तव में मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषियों-मनीषियों ने जो व्यवस्थाएँ दी समय-समय पर उनका परिमार्जन किया, उसमें समाज के हर वर्ग का रोजगार, आजीविका, धर्म, अध्यात्म, सत्कर्म, संस्कृति आदि सब कुछ सुरक्षित था। इन विचारों के विरुद्ध ब्रिटिश शासन सत्ता के द्वारा इसको गलत ढंग से परिभाषित कर जातीय विद्वेष फ़ैलाने का कार्य किया गया। ब्रिटिश कंपनियों के व्यापार को बढ़ाने के लिए परंपरागत व्यवसाय को नष्ट किया गया। ब्रिटिश राज्य की नीतियों के कारण अनेक जातियां रोजगार विहीन हो गईं। जातीय, क्षेत्रीय और भाषाई विविधता को विद्वेष के रूप में बदल दिया गया। सरकार पोषित विद्वानों द्वारा गलत व्याख्या कर सम्पूर्ण समाज को एक दूसरे से लड़ाने का प्रयास किया गया, जिससे ब्रिटिश शासन में सुविधा हो सके। साझी संस्कृति की धज्जियाँ उड़ने लगीं।

हजारों वर्ष के ज्ञान से विकसित, सामाजिक-सांस्कृतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों की पोषण करनेवाली यह स्वदेशी भारतीय अर्थव्यवस्था संपूर्ण विश्व में अनोखी एवं भारतीय परिस्थितियों में सबसे अधिक कारगर थी। हिंदू अर्थव्यवस्था के मूल ढाँचे पर प्रथम संगठित एवं सफल प्रहार अंग्रेजों के द्वारा किया गया। वास्तव में जब किसी राष्ट्र या समाज को दासता की जंजीरों में जकड़ना हो तो प्रथम प्रहार उसके 'धर्म' और 'अर्थव्यवस्था' पर किया जाता है।

अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु बुद्धिमान ब्रिटिश शासकों ने सर्वप्रथम 'सनातन व्यवस्था' के सबसे मजबूत खंभे 'वर्णाश्रम व्यवस्था' पर प्रहार करना शुरू किया। 'सनातन धर्म' के विरुद्ध नए-नए मनगढंत तर्क गढ़े जाने लगे। 'धर्म' और 'अर्थव्यवस्था' के मिटने पर राष्ट्र की 'संस्कृति और परम्परा' जिसके माध्यम से समाज के हर वर्ग का भरण-पोषण हजारों वर्ष से होता आया है, उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। जो राष्ट्र या समाज इस प्रकार के छद्म युद्धों में पराजित हो जाता है, उस राष्ट्र की जनता विजेता राष्ट्र के समक्ष समर्पण करके उसके धर्म और संस्कृति को अंगीकार कर लेती है। भारत के मामले में भी अंग्रेजों ने इसी प्रकार की 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी। अपने प्रथम और ठोस प्रहार की संपूर्ण सफलता हेतु 'सनातन धर्म' और 'संस्कृति' को मिटाना आवश्यक था। इसी कड़ी में अगला प्रहार 'हिंदू सभ्यता' और 'संस्कृति' पर किया गया ताकि 'सनातन धर्म' का भव्य महल ध्वस्त करके उसको ध्वंसावशेषों पर ईसाइयत

का महल खड़ा किया जा सके।

अनेक राष्ट्रीय महापुरुषों जैसे- स्वामी विवेकानंद, तिलक, रवींद्रनाथ टैगोर, लाला लाजपत राय, बिपिन चंद्र पाल, मदन मोहन मालवीय, दादाभाई नौरोजी, सुभाष चंद्र बोस, गाँधीजी, दयानंद सरस्वती, सुरेंद्र नाथ बनर्जी, श्रद्धानंद जैसे लोगों ने अंग्रेजों की इस कुटिल चाल को समझा और डटकर इसका विरोध किया। कहा जाता है कि इस काम को करने के लिए अंग्रेज़ों ने अनेक प्रभावशाली भारतीयों को मोटी-मोटी रकमें दी थीं।[2] इस प्रकार ब्रिटिश जनरलों ने भारतीय समाज, संस्कृति, व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और धर्म पर हमले किये, जो कि पूर्व के अन्य हमलों की तुलना में आकार, मात्रा, परिमाण और विस्तार में सर्वाधिक शक्तिशाली और गंभीर थे।

इस प्रकार भारतीय समाज, संस्कृति, व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और सनातन धर्म पर हुये हमलों से भारत का सामाजिक ढाँचा चरमराने लगा, उसमें शिथिलता आयी, फलस्वरूप सभी की वृत्ति बंद होने लगी, आजीविका के साधन और रोज़गार भी छीन लिए गये। इन सबका अंतिम परिणाम यह हुआ कि पूरे देश में आर्थिक विपन्नता का संकट उत्पन्न हो गया। चारों तरफ भुखमरी फ़ैलने लगी। अब गंगा के किनारे का सारा धन टेम्स के किनारे निचुड़ कर बरसने लगा। जॉन सुलीवान ने ब्रिटिश व्यवस्था की प्रशंसा करते हुये लिखा है-

''हमारी व्यवस्था उस स्पंज की भाँति कार्य करती है जो कि गंगा के किनारे की अर्थव्यवस्था के धन को निचोड़कर टेम्स के किनारे वर्षा करती है।''[3]

आज का युवा बेरोज़गार और हताश क्यों है? बेकारी की समस्या समाज के सामने सुरसा की तरह मुँह फैलाए क्यों खड़ी है? प्रतिवर्ष 'टिड्डी दलों' की भाँति असंख्य बेरोज़गार क्यों पैदा हो रहे हैं? वास्तव में इसका सबसे बड़ा कारण प्राचीन भारतीय व्यवस्था का टूटना है। आधुनिक अथ-र्व्यवस्था ने आम आदमी को कुछ नहीं दिया; बल्कि उसके पास जो कुछ पहले से था उसे भी छीन लिया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने इस बात को अच्छे तरीके से समझा, इसीलिये उन्होंने नारा दिया- ''वेदों की ओर लौटो''[4] अर्थात वैदिक सनातन व्यवस्थाओं का अनुसरण करो।

'कोरोना काल' के लॉकडाउन में दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, सूरत आदि महानगरों से उमड़ती हुयी करोड़ों नंगे, भूखे, तड़पते कामगारों की भीड़ ने इस बात की गवाही दे दी कि, ऊपर से चमक-दमक वाली तथाकथित आधुनिक व्यवस्था ने उनका उपयोग नर-पशुओं की भाँति किया और सारा खून-पसीना निचोड़

2 भारत का वृहत् इतिहास, भाग-3, (आधुनिक भारत), डॉ. रमेश चंद्र मजुमदार, सर राय चौधुरी, कालिकिंकर दत्त, मैकमिलन इंडिया लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1954, पुनर्प्रकाशित संस्करण 1998, पृ.सं. 188

3 आधुनिक भारत, रामलखन शुक्ल, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण 1998, पृ. सं. 388

4 'सत्यार्थ प्रकाश' स्वामी दयानंद

लेने के बाद उन्हें सड़क पर और रेल लाइन पर मरने के लिए छोड़ दिया। तथाकथित ग्लोबल आधुनिक व्यवस्था ने इनके साथ 'यूज एंड थ्रो' की नीति अपनाई। आधुनिक अर्थव्यवस्था में हस्तशिल्पी, कारीगरों, स्थानीय छोटे-छोटे उद्योगों, बुनकरों आदि को नष्ट करके बड़े-बड़े यंत्रों वाले कारखानों को जन्म दिया गया, जिससे भारत की पूरी व्यवस्था ही डाँवाडोल हो गई। इन उद्योगों में काम करने वाले मजदूर वर्ग की हालत बद-से-बदतर होती गयी। इस 'उद्योग संस्कृति' में उत्पादों के मार्केटिंग या विज्ञापन का बोझ भी उपभोक्ता पर डाल दिया जाता है। किसी बड़े अभिनेता या क्रिकेटर द्वारा करोड़ों रुपए लेकर किये गए विज्ञापन तथा उस पर अन्य प्रकार के अनेक व्यय, जिसकी लागत करोड़ों-अरबों में आती है; सब का भार अंततः उपभोक्ता ही उठता है। देश में महँगाई बढ़ने का सबसे बड़ा कारण इस प्रकार की 'कारखाना संस्कृति' ही है।

धन का अथाह मात्रा में बहिर्गमन-

अंग्रेजी शासन के दौरान भारत के धन का अथाह मात्रा में बहिर्गमन हुआ। देश की लगभग अस्सी फीसदी से अधिक पूँजी और अन्य बहुमूल्य परिसंपत्तियाँ इंग्लैंड चली जाती थीं। इस प्रकार की अविवेकपूर्ण लूट के कारण तत्कालीन भारत में महान आर्थिक संकट, अकाल, भुखमरी, बेबसी, बेकारी भारतीय उद्योगों का विनाश तथा अन्य प्रकार की अनेक समस्याएँ ब्रिटिश काल में पैदा हुईं। भारत के लगभग पूर्ण दोहन का संपूर्ण वर्णन कर पाना असंभव है, किंतु फिर भी वह युग निश्चित तौर पर अर्थव्यवस्था की दृष्टि से गंभीर संकट का काल था।

भारत के धन के बहिर्गमन से पड़ने वाले कुप्रभावों का विस्तृत वर्णन लगभग सभी राष्ट्रीय नेताओं, विचारकों, इतिहासकारों आदि ने गंभीरतापूर्वक किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि 'ब्रिटिशकाल' में बेकारी का सर्वप्रमुख कारण यही 'धन का बहिर्गमन' था जो, कि दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, लाला लाजपत राय, रमेशचंद्र दत्त, गाँधीजी आदि के शोधपरक लेखन से पूरी तरह स्पष्ट है।

दादाभाई नौरोजी ने 'पावर्टी एंड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया', 'इंग्लैंड डेब्स टू इंडिया' शीर्षक लेखमाला (बाद में पुस्तकाकार) में 'धन बहिर्गमन' से भारत पर पड़ने वाले प्रभावों की विस्तृत समीक्षा की है।[5]

स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था लालफीताशाही और राजनीतिक भ्रष्टाचार की शिकार हो गई। भारतीय धन का स्विस बैंक और विदेशों में अन्य स्थानों पर काले धन के रूप में बहिर्गमन हुआ। भ्रष्टाचार ऊपर से लेकर नीचे तक व्याप्त हो गया।

भारत के पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने सार्वजनिक रूप से यह कहा था कि- ''केन्द्र से भेजे गए एक रुपए का मात्र पन्द्रह पैसा ही नीचे तक पहुँचता है'' अर्थात् एक रुपए का पचासी पैसा लूट की भेंट चढ़

5 'पॉवर्टी एंड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया'-दादाभाई नौरोजी, इंग्लैंड डेब्सट टू इंडिया'-दादाभाई नौरोजी, इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया'- रमेशचंद्र दत्त (1901), आधुनिक भारत - सुमित सरकार

जाता था। भारत सरकार या प्रदेश सरकार की अब तक लागू की गयी योजनाओं के कुल आवंटित धन का अगर पचासी प्रतिशत निकाला जाय तो वह कितना होगा? क्या आपने इसकी कभी कल्पना की है? भारत का जो वर्तमान संकट है, उसके मूल में यही 'संगठित लूट' है। भारत के बाजार से हुई इस लूट के कारण अथाह मात्रा में भारतीय मुद्रा और संपत्ति चलन से ही बाहर हो गई, जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था की कमर टूट गयी।

भारतीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने और प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार उपलब्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि परंपरागत कुटीर उद्योगों को बढ़ावा दिया जाये। ग्रामीण अर्थव्यवस्था की कीमत पर बड़े औद्योगिक इकाइयों और शहरी अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देना सम्पोषणीय विकास और रोजगार दोनों के लिए नुकसानदायक है, इसलिए छोटे उद्योगों को महत्त्व दिया जाना चाहिए। वर्षा पर निर्भर कृषि क्षेत्र, तकनीकी की कमी और अपर्याप्त ज्ञान कृषि व्यवस्था के विकास में बाधक है। कृषि क्षेत्र में भी पर्याप्त सुधर की आवश्यकता है।

सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा धन का दुरुपयोग, विकास योजनाओं तक आम-जन की पहुँच न होना और उपेक्षा, अविवेकपूर्ण तरीके से मशीनों का प्रयोग, शिक्षा एवं कौशल का अभाव, योग्यता के अनुसार रोजगार न मिलना, बेलगाम जनसंख्या विस्फोट आदि ऐसे अनेक कारण हैं, सम्पोषणीय विकास और अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करने के लिए जिनमें धन की महती आवश्यकता है।

आर्थिक क्षेत्र हो या कोई अन्य क्षेत्र आज विश्व को नई दिशा एवं दृष्टि वहीं से मिलने की सम्भावना है जहाँ युगों-युगों से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का केवल राग ही नहीं अलापा जाता रहा है अपितु पीढ़ी दर पीढ़ी अपने जीवन में उसे चरितार्थ करके दिखाया गया है। वह पवित्र पावन भूमि यही भारत भूमि है।

- श्रद्धेय अशोक सिंहल

अरुंधती वशिष्ठ अनुसन्धान पीठ

महावीर भवन, 21/16, हाशिमपुर रोड, टैगोर टाउन
प्रयागराज-211002 मो. 919453929211
E-mail : nationalthought@gmail.com
Web : www.avap.org.in

2230-7001

Price : 200/-